

और चञ्चल तरङ्ग मरे हुए समुद्र को तैर कर पार हो
सक्ता है और क्रोधित सर्प को फूल को नाई मनुष्य
सिर पर पार सक्ता है परन्तु मूर्ख का चिच जो असत
वस्तु में धंसा हुआ है उसे कोई नहीं बिलगा
सक्ता है ॥ ४ ॥

लभेत् सिकतासु तैलमपि पन्नतः पीडयन् ।

पिवेच्चमृगतृष्णिकासु सलिलं पिपासार्दितः ॥

कदाचिदपि पर्यटञ्जराविषाणमासादयेन् ।

नतु प्रतिनिविष्टमूर्खजन पित्तमारापयेत् ॥५॥

(भा० टी०) यदि यद्य से पेर तो बाछ में तेल
पावे और मृग तृष्णा में प्यासा कदाचित् जल भी
पिये औरें दूढ़ने से खर का सींग भी मिल सकें परन्तु
मूर्ख का चिच जो असत वस्तु में धंसा है उसे कोई
नहीं अलग कर सक्ता है ॥ ५ ॥

व्यालं बालमृणालतंतुभिरसौ रोदुं समुज्जृम्भते ।

भेल्लुं पन्नमणिज्जिरापुरुषुम प्राप्तेन सन्नद्यते ॥

माधुर्यं मधुविदुना रचयितुं चारागुपेर्तद्वते ॥

नेतुं वाञ्छितयः स्वलान्पथिततांस्तर्कं मुपास्पदिभिः ६

(भा० टी०) यह मनुष्य कोमल कमल पं। हंटी

के सूत से हाथी को बांधा पादता है और तिरस के

नीचे ही नीचे गिरती गई और स्वयं भी होती
तैसे ही विवेक अष्ट लोग भी सर्वदा सी सी प्रकार
गिरते ही जाते हैं ॥ १० ॥

शक्त्योवारयितुं जलेन द्रुतमुद्ध्वेजेण सूर्यांतपो
नागेन्द्रो निशितां कुशेन समदो दण्डेन गोगर्दभो
व्याधिर्मेपजसंग्रहेश्च विविधैर्मन्त्र प्रयोगैर्विषम् ।
सर्वस्यौषधमस्तिशास्त्रविहितंमूर्खस्य नास्त्यौषधं ॥ ११ ॥

(भा० टी०) जल से अग्नि का निवारण हो सका
है छाता से धूप का चोखे अंकुश से उन्मत्त हार्थी का
दण्ड से दुष्ट बेल और गदहे को नाना प्रकार की
औषधियों से व्याधि को और मंत्र प्रयोग से विष का
योग शास्त्र की विधि से सब की औषधि है परन्तु
मूर्ख की औषधी नहीं हो सकती ॥ ११ ॥

साहित्य संगीत कला विद्वानः ।

साक्षात्पशुः पुच्छविपाणहीनः ॥

तृणं न खादन्नपि जीवमानः ।

स्त

॥ १२ ॥

जीता है यह उन पशुओं का परम माय है ॥ १२ ॥

येषां न विद्या न तपो न दानम् ।

ज्ञानं न सौलं न गुणो न धर्मः ॥

ते मर्त्यलोके क्षुवि भारभूताः ।

मनुष्य रूपेण मृगाश्चरन्ति ॥

(भा० टी०) जिन को विद्या तप ज्ञान शील गुण और धर्म नहीं वे मृत्यु लोक में पृथ्वी पर भार रूप साक्षात् पशु हैं मनुष्य का रूप धर कर विचरते हैं ।

वरं पर्वतदुर्गेषु भ्रातं वनधैरः सह ।

नमूर्खजनसम्पर्कः सुरेन्द्र भवनेष्वपि ॥

(भा० टी०) पर्वत और वन में वनधरों के संग भ्रमण करना अच्छा है परन्तु मूर्ख जनका संसर्ग इन्द्र भवन में भी बुरा है । ॥ १४ ॥

शास्त्रोपस्कृतशब्दसुन्दरगिरः शिष्यप्रदेयागमा ।

विख्याताः कवयो वसन्ति विषये यस्यप्रभोर्निर्धनाः ॥

तज्जाड्यं वसुधाधिपस्य कवयो ह्यर्धविनापीश्वराः ।

कुत्साः स्युः कुपराक्षकादिमणयो वैरर्भवः पातिताः ॥

(भा० टी०) शास्त्रोक्त शब्दों से जिन की वाग्मी सुन्दर है और शिष्य के पदों में योग्य जिन को विद्या है और वे आप को प्रतिष्ठा हैं ऐसे यदि जिस राजा के

देश में निधन रहते हैं उस में जड़ता राजा ही का है और कविलोग तो बिना द्रव्यके भी श्रेष्ठ ही है जिन्होंने मणियों का मोल घटाया वं परीक्षा करने वाले ही खोटे हैं ॥ १५ ॥

हर्तुर्याति न गोचरं किमपि शं पुष्पाति यत्सर्वदा ।
ह्यर्थिभ्यः प्रतिपाद्यमानमनिशं प्राप्नोति वृद्धिं परां ।
कल्पान्तेष्वपि न प्रयाति निधनं विद्यास्यमन्तर्धनम्
येपातान्प्रति मानमुष्मत्तनृपाः कस्तेः सह स्पर्धते ।

(भा० टी०) चुराने वाले को नहीं देख पड़ता ओ सदा सुख की वृद्धि करता है और निरन्तर मांग वालों को दिया जाय तो परम वृद्धि को प्राप्त होत है और कल्पांत में भी जिसका नाश नहीं ऐसा विद्यारूपो अन्तर धन जिन के पास है तिनसे हे राजा लोगे अभिमान छोड दो क्योंकि उनके समान जगत में दूसरा कौन है ॥ १६ ॥

अधिगत परमायान्पाण्डितान्मावमंस्थाः ।

स्तृणुमिव लघु लक्ष्मणैव तान्संरुणद्भिः ॥

अग्निवमदेस्त्वास्यामगण्डस्थलानाम् ।

न भवति विसतन्तुर्वारणं वारणानाम् ॥

(भा० टी०) जिनको परमार्थ अधीति मोक्ष

के साधन प्राप्त है ऐसे पाण्डितों का अग्रमान मत करो
य्योंकि उनको ठण के समान तुझारी लक्ष्मी न
रोक सकेगी जैसे नवान मद की धारा रोभित श्याम
मस्तक बाछे हाथी को कमल की दंड़ी का सुत नहीं
रोक सकता ॥ १७ ॥

अभोजिनी वननिवास निलासमेव ।

इंसस्य हन्ति नितरा कुणितो विधाता ॥

नत्वस्य दुग्धजलभेदविधौ षसिद्धाम् ।

वैदग्ध्यर्कातिमपहर्तुमसोऽसमर्थः ॥

(भा० टी०) इंस पा यदि विधाता कोप करे तो
उसका कमल यनमें निवास और वहाँ का विलास नष्ट
कर सका है परन्तु उसके दुध और जल विच्छेदने का
प्रसिद्ध पाण्डित्य (चतुर्हर्ष) की कर्ति को विधाता भी
नहीं नाश कर सका ॥ १८ ॥

केयूरा न विभूषयन्ति पुरुषं हारा न चन्द्रोज्ज्वला
न स्नानं न विलेपनं न कुसुमं नालंकृता मूर्द्धजाः ॥
व्राण्येका समलंकरोति पुरुषं या संस्कृता धार्यते ।
स्त्रीयन्ते खलु भूषणानि सततं वाग्भूषणं भूषणम् ॥ १९ ॥

(भा० टी०) बाजूबन्द कंकण और चन्द्रमा के
समान उज्ज्वल स्त्रियों के हार स्नान चदन लेपन

फूला का शृंगार और सुधरे हुए केशादि पुरुषों को
 भूषित नहीं कर सके केवल वह बाणी जो संस्कार
 युक्त धारण की गई हो पुरुषों को भूषित कर सके है
 और सब भूषण अवश्य क्षय हो जाते हैं परन्तु केवल
 बाणी ही का भूषण २ की जगह रहजाते हैं ॥ १२१ ॥

विद्या नाम नरस्य रूपमधिकं पञ्चान्नगुप्तं
 विद्याभोगकरी यशःसुखं विद्यायाः ॥

(भा० टी०) यदि क्षमा होतो कवच का क्या काम है और जिस मनुष्य में कोष है तो उसे शत्रु की क्या आवश्यकता है यदि जाति है तो उसे अभिका क्या प्रयोजन है और जो अपने इष्टमित्र समीप हैं तो दिव्य औषधियों से क्या फल है जिन के दुर्जन विद्यमान हैं उसका सप और अधिक क्या करेंगे और जिसके निर्दोष विद्या है तो उसे घन सञ्चय से क्या होगा और जिसे लज्जा है तो उसे फिर और भूषण क्या है और जिस को सुन्दर कविता है उसके आगे राज्य क्या है ॥११॥

दाक्षिण्यं स्वजने दया परजने शाठ्यं सदा दुर्जने ।
प्रीतिः साधुजने नयोरुपजने विद्वज्जनेष्वार्जवम् ॥
शौर्यं शत्रुजने चमा गुरुजने नारीजने धूर्तता ।
येचैवं पुरुषाः कलासु कुशलास्तेष्वेव लोकस्थितिः ॥

(भा० टी०) अपने कुटुम्ब के विषे उदारता परजन पर दया दुर्जन से सदा शठता साधु से प्रीति राजसभा में नीति पण्डितों से ममता ई शत्रुजनों में सूता बड़े लोगों में क्षमा और स्त्रियों में धूर्तता जो पुरुष इस भांति इन सब कलाओं में निपुण हैं तिन्हीं में लोकाचार की स्थिति है अर्थात् लोकमें वही अच्छे होते हैं ॥ १२ ॥

जाड्यधियोहरतिसिधति वाचि सत्यम् ।

मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति ॥

चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्तिम् ।

सत्संगतिः कथय किं न करोति पुंसाम् ॥

(भा० टी०) बुद्धि की जड़ता को हराती वाणी सत्यको सींचती मानको बढ़ाती पाप को दूर करती चिन्तको प्रसन्न रखती और दिशाओं में कीर्ति को विस्तृत (फैलाती) करती है देखो तो यह सत्संगति पुरुष को क्या नहीं करती है ॥ २३ ॥

जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः ।

नास्ति येषां यशः काये वरामरणजंभयम् ॥

(भा० टी०) ऐसे पुण्यवान् रससिद्ध, कवीश्वर, जिनको रस सिद्धि के ग्रन्थरूपी काया में वरामरणजंभयम् का भय नहीं होता ॥ २४ ॥

सूनुः सञ्चरितः सती प्रियतमा स्वामी प्रसादोन्मुक्तः ।

स्निग्धं मित्रमवञ्चकः परिजनो निःकेशलेशमनः ।

आकारो रुचिरः स्थिरश्च विभवो विधायदातुं मुसम् ।

तुष्टे विष्टपद्धारिणीष्टदहरोः स्त्राप्यते दोहिना ।

(भा० टी०) सराचाण वाला पुत्र, पतिव्रता स्त्री, स्निग्ध, अनुग्रह करने वाला स्वामी प्रेमी मित्र दुष्ट, बुरे लोग अरुद्ध, कम श्रेष्ठ के प्रेमी, युद्ध में मन्द, सुख

स्थिर सम्पत्ति और विद्या से शोभायमान मुख यह सब उस मनुष्य को प्राप्त होते हैं जिसपर जगतपिता मनोरथ के दाता हरिभगवान् प्रसन्न हों ॥ २४ ॥

प्राणाघातान्निवृत्तिः परधनहरणसंयमः सत्यवाक्यं ।
काले शक्त्या प्रदानं युवतिजनक्यामूकभावः परेषाम् ॥
तृष्णां स्रोतो विभङ्गो गुरुषु च विनयः सर्वभूतानुकम्पा ।
सामान्यः सर्व शास्त्रेष्वनुपहतविधिः श्रेयसामेष पन्थाः ॥

(भा० टी० जीवहिंसा से निराति रहना पराए धन हरण करनेसे संयमन करना सत्य बोलना समय पर यथा शक्ति दान देना परस्त्रियों की कथा में मौन रहना तृष्णा के प्रवाह को तोड़ना बड़े लोगों में नम्र रहना प्राणी मात्र पर दया रखना सब शास्त्रों में प्रवृत्ति रखना और नित्यनैमित्तिक कर्मों को न छोड़ना यह सब मनुष्यों के कल्याण का षण्ण है ॥ २५ ॥

प्रारम्भ्यते न खलु विप्रभयेन नीचैः ।

प्रारम्भ्य विप्रविहता विरमन्ति मध्याः ॥

विप्रैः पुनः पुनरपि पतिहन्यमानाः ।

प्रारम्भ्य चोत्तमजना न परित्यजन्ति ॥

(भा० टी०) विप्र के भय से नीचजन कार्य का आरंभ ही नहीं करते और मध्यम जन आरंभ कर विप्रों

देसकार्य को छोड़ बैठते हैं और उत्तमगन बारंबार धिमे होनेसे भी कार्य का आरंभ करके परित्याग नहीं करते अर्थात् उस कार्य को पूरा ही करके छोड़ते हैं ॥ २७ ॥

मिया न्याय्या वृत्तिर्मलिनमसुभगेप्सुकरम् ।

त्वसंतो नाभ्यर्थाः सुहृदपि न याप्यः कृपणः ॥

विपण्णैः स्वेयं पदमनुविधेयं च महताम् ॥

सतां केनोद्दिष्टं विपममसिधारावतमिदम् ॥

(भा० टी०) सख्युपलोग असांतोपसे कुछ याचना नहीं करते और स्वल्पधनवाले सज्जन से भी नहीं माँचते न्यायोक्त अपनी जीरीका उन्हें प्रिय है प्राणजाने परभी मठिन होने उनसे दुष्कर है विपति में लगे पने रहते हैं और श्रेष्ठ लोगों के आश्रय को धारण किए रहते हैं यह नरसार को धार ले कठोरजन को उन्हें किसने उद्देश किया मानो ज्ञाने उपदेश किया है ॥ २८ ॥

धृतामोऽपि जगदुसोऽपि शिथिलमपि कष्टादया ।

नामोऽपि विपन्नसिधितरपि पाणि'कारकस्यापि ॥

यनेनम् विमन्नकुम्भद्वाराप्राने कष्टदृष्टः ।

हिंसायै कृण्वन्ति मानवदत्तामप्रेतरः केमो ॥

(भा० टी०) नृपक्षयो दुर्जनदृष्टः पश्यते केमो नृपक्षयो दुर्जनदृष्टः हो नृपक्षयो नृपक्षयो नृपक्षयो

देना पृथ्वी पर लोट के पेट और मुँह दिखाना
इत्यादि क्षीनता कुचा टुकड़ा देने वाले के आगे करता
है और गजराज अपने आहार देनेवाले की ओर पुर
वर्त गंभीरता से देखकर अनेक भाँचि की चतुराई से
भोजन करता है ॥ ३१ ॥

परिवर्तिनि संसारेमृतः को वा न जायते ।

स जातो येन जातेन याति वंशः समुन्नतिम् ॥

भा० टीका—बड़ी पुरुष जगत में अनमा जिनसे
जन्मे से वंशकी उत्पत्ति हो नहीं तो इस शक के
नाई धूमते भए संसार में मरके कौन नही जन्म
पाता है ॥ ३२ ॥

कुमुपमताकस्येन दे गतीस्तो मनसिनाम् ।

मूर्ति वा मनेनाहम्य निरीर्यत वनधना ॥

भा० टी०—हृद के गुच्छे की नाई श्रेष्ठियों की
गति से प्रहार की है वा तो सब लोगों के मस्तकही
पर जोनित दोगे अथवा बन्दों में युद्ध (युद्ध) होने
समान हो जायगे ॥ ३३ ॥

मेवमेवम् । नृदन्मतिप्रवृत्तयः संभाविताः पञ्चपा ।

नृदन्मतेषां विद्यमानकमकरो राहुर्न नेत्याने ॥

उत्तरा कले दिव्यतीनयासिद्धते नामुते ।

नृदन्मतेषां विद्यमानकमकरो राहुर्न नेत्याने ॥

भा० टो०—बृहस्पति आदि और भी पांच सात
आकाश में श्रेष्ठ है पर विशेष पराक्रम की इच्छा
करनेवाला राहु तिनके प्रति वैर नहीं करता है । हे
नाइयो देखो कि अमावस और पूर्णिमा को दानवपति
राहु जो केवल मस्तक ही मात्र रह गया है तिसपर भी
तोही दिनेश्वर शोभाकर सूर्य और चन्द्रमा पूर्ण तेज-
न ॥ शत्रुओं को जाकर प्रसता है ॥ ३४ ॥

वहति भुवन श्रेणी शेषः फणाफणकस्थिताम् ।
कमठपतिना मध्येष्टुं सदा स विधार्यते ॥
तमपि कुरुते क्रोडा धानं पयोधिरनादरा ।
दःहमहतांनिःसीमानश्चरित्रविभूतयः ॥

भा० टी०—चौदह भुवनकी प्रांति को शेषजी अपने
की फन पर धारण किये हैं कच्छपजी अपना पोठ के मध्य
में तिन शेषजी को भी धरे हैं, और उन कच्छपको भी
होके समुद्रने अनादर से झूठ के आधीन कर दिया है इससे
यह सिद्ध हुआ कि महज्जनों के चरित्र की शोभा
की सीमा नहीं है ॥ ३५ ॥

वरं पक्षच्छेदः समदमघवन्मुक्तकुलिश ।
प्रहारिरुद्रच्छद्रहल दहनोद्धार गुरुभिः ॥
तुषाराद्रेः सूनोरहह वितरि क्लेशविवशे ।

नचासौसंपातः पयसि पयसांपलुर्ग
 (भा० टी०) मद में भो हुए इन्द्र के
 ही चोट को जिसकी अग्नि की ज्वाला शरी-
 रसे मरजाना अच्छा रहा परन्तु अपने पिता
 हो छेश के विवश छोड़ उसके पुत्र मैनाइ
 था कि जलराज समुद्र में भागकर दूध के
 चावे ॥ ३६ ॥

इदचेतनोऽपि पादः स्पृष्टः पञ्चलतिमन्त्रितुरित
 तेजस्वी पुरुष परकृतविभूतिं कथं सहेत ॥

(भा० टी०) यदि कान्तमणि यदि अपेक्ष
 में सूर्य के क्षिण रूपी पदमयने करने में
 उदता है ऐसे ही तेजस्वी पुरुष परकृत अर्थात्
 अल मर्त्य ॥ ३७ ॥

नेहः शिशुमूर्तिनिपतानिमदमर्त्य ॥ ३८ ॥ तेनानि
 यद्वर्तमानं मर्त्यं न मर्त्यं न मर्त्यं न मर्त्यं

(भा० टी०) मर्त्य ३८ ॥ ३८ ॥ तेनानि
 मर्त्य ३८ ॥ ३८ ॥ मर्त्य ३८ ॥ मर्त्य ३८ ॥
 मर्त्य ३८ ॥ मर्त्य ३८ ॥ मर्त्य ३८ ॥ मर्त्य ३८ ॥
 मर्त्य ३८ ॥ मर्त्य ३८ ॥ मर्त्य ३८ ॥ मर्त्य ३८ ॥

मर्त्य ३८ ॥ मर्त्य ३८ ॥ मर्त्य ३८ ॥ मर्त्य ३८ ॥

शीलं शैलतटात्पतत्वभिजनः सन्दह्यतां वह्निना ॥
 शीघ्रं वैशिष्ट्यवज्रमाशु निपतत्वयोऽस्तु नः केवलं ।
 त्रिकेन विना गुणास्तृणलवप्रायाः समस्ताहमे ॥

(भा० टीका०) जाति रसातल में जाय और सर्व
 गुण उससे भी अधिक नीचे जाय और शील पर्वत
 से गिर के नाश होजाय और कुटुम्ब के लोग अग्नि में
 ज्ञाय और सूतारूपी शत्रु पर बज्र पड़े परन्तु हमको
 केवल द्रव्य ही से काम है कि जिसके बिना सर्व गुण
 तृणके समान हैं ॥ ३९ ॥ इति मान शौर्य प्रशंसा ॥

१. तानान्द्रियाणि सकलानि तदेव कर्म ।

सा बुद्धिरप्रतिहता वचनं तदेव ॥

अर्धोष्मणा विरहितः पुरुष स एव त्वयः ।

क्षणेन भवतीति विचित्रमेतत् ॥

(भा० टी०) सर्व इन्द्रियां यही हैं और ध्यौहारभी
 सब यही है और प्रबल बुद्धि भी है और वचन भी
 ऐसे ही हैं परन्तु एक द्रव्य की उष्णता बिना यही
 पुरुष क्षण मात्र में और का और होजाता है, यह
 विचित्र गति है ॥ ४० ॥

यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलोत्तमः ।

स पाण्डितः स शतवारं बुधहः ॥

भोगमें न लाया उसके धनकी नाशरूप तीसरी गति होती है ॥ ४३ ॥

मणिः शायोलीढः समरविजयी हेति निहतो ।

मदक्षीणो नागः शरदि सस्तिः श्यानपुलिनाः ॥

कलाशेषचन्द्रः सुरतमृदिता बाललसना ।

तनिम्ना शोभन्ते गलितविभवाश्चार्येषु जनाः ॥

(भा० टी०) सानसे खरादी हुई मणि, संग्राम के

जीतनेवाला खड्गसे इत, मदसे उतरा कृश हाथी, शरद ऋतुकी स्थल्पनदी, दूजका चंद्रमा सुरति की मली हुई वाला लो, और अति दाब देनेसे दरिद्री, इत्यादि सब की दुर्बलताही की शोभा है ॥ ४४ ॥

परिक्षीणः कश्चित्स्पृहयति यवानां प्रसृतये ।

स पश्चात्संपूर्णं कलयति धरित्रीं तृणसमाम् ॥

अतश्चानेकान्त्याद्गुरुलघुतयार्थेषु धनिना-

मवस्था वस्तूनि प्रथयति च सङ्कोचयति च ॥

(भा० टी०) जब कोई परिक्षीण अर्थात् निर्धन,

धनमें होता है तब एक पसा जबकी इच्छा करता

र वही मनुष्य जब सम्पूर्ण संपन्न अर्थात् धनिक

मा में होजाता है तब पृथ्वीको तृण समान गिनता

कारण यही दोनों चंचल अवस्था पुरुषको गुरु

तु बनाती है और वस्तुओंको भी फैलाती और

है ॥ ४५ ॥

राजन्दुधुचासि यदि शितिधेनुमेनां ।

तेनाद्य वत्समिव लोकममु पोषाण ॥

तस्मिंश्च सम्यगनिशं परिपोष्यमाणे ।

नानाफलैः फलति कल्पलतेव भूमिः ॥

भा० टीका—हे राजा ! जो पृथ्वीरूपी धेनुको
 चाहते हो तो बछड़ेके समान प्रजालोकोंका पोषण
 जब यह प्रजारूपी बछड़ा अच्छी भांति से नि-
 पोषा जायगा तब कल्पलता के तुल्य पृथ्वी
 प्रकार के फल देगी ॥ ४६ ॥

सत्यानृता च परुषा प्रियवादिनी च ।

हिंसा दयालुगी चार्थपरा वदा-चा ॥

नित्यव्यथा प्रचुग्नित्यधनागमा च ।

वेश्याग्नेव नृर्नानिर्नकरूपा ॥

भा० टी०—कहीं सत्य कहीं असत्यवादिनी
 कठोर कहीं प्रियभाषिणी कहीं हिंसा करनेवाली
 दयालु कहीं लोभी कहीं उदार कहीं नित्यप्रति बहुत
 द्रव्य उठानेवाली और कहीं बहुत ही संचय करनेवाली
 यह राजनीति देशवाकी नाई अनेक रूपसे रहती है।

विद्या कीर्तिः पालनं ब्राह्मणानां ।

दानं भांगो मित्रसंरक्षणं च ॥

येषामेने षड्गुणा न प्रवृत्ताः ।

३

कोऽर्थस्तेषां पार्थिवोपाश्रयेण ॥ ४८ ॥

(भा० टी०) विद्या, कीर्ति प्राप्ति, शांति, दान, भोग और मित्रोंकी रक्षा, जिनमें ये गुण सम्पादन न हुए तिन्हीं राजाकी सेवाका क्या फल है ॥

यद्वात्रा निजभालपटलिखितं स्तोकं महद्वा धनं ।
तत्प्राप्नोति मरुस्थलेपि नितरां मेरुततो नाधिकम् ॥
तद्दीरो भव वित्तवत्सु कृपणां वृत्तिं घृथा माकृथाः ।
कूपे पश्य पयोनघावपि घटो गृह्णाति तुल्यं जलम् ॥

भा० टी०—विधाताने जो अपने ललाट में लिख दिया है किंचित् धन अथवा बहुत चाहे मारवाडकी भूमि में भी जाय बैठे उसे यह निरन्तर प्राप्त होगा उसमें अधिक सुमेरुपरभी जानेमें न मिलेगा इसलिये, धैर्य, धरो और धनवालों के निकट घृथा याचना न करो क्योंकि देखो कूप और समुद्रमें घटा समानही जल ग्रहण करता है ॥ ४९ ॥

त्वमेव चातकाधारोऽस्तीति केषां न गोचरः ।

किमभेदवरस्माकं कार्योक्तिरुच्यते ॥

भा० टी०—तुमभी मुझ परीक्षाके आधार हो है भेद मेघ यह बात किसपर नहीं प्रसिद्ध है अथ तुम हमारी

। जेनः परित्यक्तव्यो विद्ययाभूषितोऽपि सन् ।

। मणिनालङ्कृतः सर्पः किमसौ न भयंकरः ॥

भा० टीका—) दुर्जन यद्यपि विद्यावान् भी हो तो परित्यागही के योग्य होता है ऐसे मणिते भूषित । क्या भयंकर नहीं होता ॥

। ड्यं ह्यमति गण्यते व्रतरुचोदम्भः शुचो व्रतयं ।

। निर्वृणता गुणो विमतिता देन्यं प्रियालाभिनि ॥

। स्त्रिन्यवलिप्तता मुखस्ता वक्तव्यशक्तिरिधरे ।

। को नामगुणो भवेत्स गुणिनां यो दुर्जनोर्नादितः ॥

(भाषा टीका) लज्जावान् पुरुषको शक्ति, व्रत ही को दम्भी, पवित्रको पपटी, शत्रुको निर्दय, तापे गृह, प्रिय करने वालेको दीन, नेजरको भी गर्वी, दाको धकवादी, और रिधर विधवालेको अलसी, होते हैं इससे यह जान पड़ता है कि गुणियों में वीरता गुण है कि जिसे दुर्जनोने धरुंक नहीं लगाया ५४

। भरनेदगुणेन किं निश्चिता यद्यस्ति किं पातकेः ।

। त्वं मेवमसाच किं गुणिमनो यद्यस्ति तीर्थनविस्म ।

। अन्यं यदि किं गुणः स्वमहिमा यद्यस्ति किं नन्दनेः ।

। दिवा यदि किं जनैरप्यशो यद्यस्ति किं रत्नना ॥

(भा० टीका)) लोभ जितमे है फिर उतवे और वर-

मित्र नहीं जैसे होम करनेवालेको भी अग्नि झूजाय तो
जलाही देता है ॥ ५७ ॥

मौनान्मूकः प्रवचनपटुश्चाटुलो जल्पको वा ।

घृष्टः पार्श्वे वसति च तदा दूरतश्चाप्रगल्भः ॥

क्षान्त्या भीरुर्यदिनसहते प्रायशो नाभिजातः ।

सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः ॥

(भा० टी०) मौन रहनेसे गूंगा, वक्ता होनेसे यातुल
और बकवादी, समीप होने से ढीठ, दूर रहने से मूर्ख,
क्षमा करने से कादर, और न सहने से कुब्जदीन.
कहलाता है. तात्पर्य यह है कि सेवा धर्म परम कठिन
है योगियों को भी अगम्य है ॥ ५८ ॥

उद्रासिताखिलखलस्य विशृङ्खलस्य ।

प्राग्जातविस्तृतनिजाधर्मकर्मवृत्तेः ॥

देवादवाप्तावभवस्य गुणद्विषोऽस्य पोऽस्य ॥

नीचस्य गोचरगतैः सुखमात्यतैः ॥ ५९ ॥

भा० टी०—अनेक खलों को प्रकाश करने वाला
निरंकुरा कि जिसके पूर्वजन्मके भेद अवम कर्म उद्व
हो रहे हैं और देवदर के धनभी उसे प्राप्त है और गुणोंसे
क्षेप करनेवाला ऐसे नीचके वर रहकर दित्तने सुख
पाया है ॥ ५९ ॥

आरम्भगुवा चयिणी क्रमेण ।

लब्धीपुरा वृद्धिमती च पश्चात् ॥

दिनस्य पूर्वार्द्धपरार्द्धभिन्ना ।

आयेव मैत्री खलसज्जनानाम् ॥

भा० टी०—आरंभमें बहुत लब्धी चौड़ी फिर क्रमपूर्वार्द्ध दोपहरकी छाया के समान खलों की मैत्री प्रतीक्षण घटती जाती है और सज्जनोंकी मैत्री पश्चात् बहुत किंचित फिर क्रमही क्रम परार्द्ध दोपहरकी छाया नाई प्रतिक्षण बढ़ती जाती है ॥ ६० ॥

मृगर्मानसज्जनानां तृणजलसंतोषविहितवृत्तानाम्
लुब्धकर्षावरपिशुनानिष्कारणवेरिणो जगति ॥

भा० टीका—हरिण, मछली, और सज्जन तृण, जल और संतोष करके अपनी जीविका करते हैं पर व्याध्यावर और कुटिललोग बिना प्रयोजनही इनसे संसार चर रखते हैं ॥ ६१ ॥

इति दुर्जन प्रशंसा । अथ सुजननिंदा ।

वाञ्छा सज्जनसङ्गमे परगुणे प्रीतिर्गुरो नम्रता
विद्यायां व्यसनं स्वयोपतिसतिलोकापवादाद्भयम् ।
भक्तिःशूलिनि शक्तिगामदमने संसर्गमुक्तिः खले-
प्येते येषु वसन्ति निर्मलगुणास्तेभ्यो नरेभ्यो नराः ॥

(भा० टी०)—सत्प्रज्ञाकी सारसगर्भा आँडा, यगोप
गो प्रीति, लड़े लोमों में सप्रज्ञा, विद्या में व्यसन
का ही व्या में रति, लोक निर्दामे भय, मंदिरका में
ने, आत्मा के दामन की सारिछ छाँट स्वयं के संग्रहा
म में निर्मल गुण (जन पुष्पों में है) तिहरे दृष
सनाए करते हैं ॥ ६४ ॥

विवादो गौर्यमयाभ्युदये शुभा ।

मदाति वाचस्पदता युधि विदमः ॥

मशांमनामिनाचर्ममन भुत्ता ।

वहृत्तिवद्विदति मदात्मनाम् ॥

(भा० टी०)—वशांत में धीरे, ऐश्वर्यम रत्ना, सत्प्रज्ञा
म सारिमें प्रवृत्ति, संग्राम में सत्प्रज्ञा, जयन सत्प्रज्ञा
म शांत सत्प्रज्ञा व्यसन में सारि सत्प्रज्ञा म शांत
विक सत्प्रज्ञा रत्ना है ॥ ६५ ॥

मदात्मनाचर्ममन भुत्ता

विधि सत्प्रज्ञा मीने सदाति सत्प्रज्ञा सत्प्रज्ञा ॥
सत्प्रज्ञा सत्प्रज्ञा सत्प्रज्ञा सत्प्रज्ञा सत्प्रज्ञा ॥

सत्प्रज्ञा सत्प्रज्ञा सत्प्रज्ञा सत्प्रज्ञा सत्प्रज्ञा ॥

(भा० टी०)—सत्प्रज्ञा मीने सदाति सत्प्रज्ञा सत्प्रज्ञा
सत्प्रज्ञा सत्प्रज्ञा सत्प्रज्ञा सत्प्रज्ञा सत्प्रज्ञा ॥

दूसरे के किये हुए उपकारको सचा में वर्णन कर
घन पाकर गर्व न करना, और पराई चर्चा में उर
निरादर की बात बचाकर कहना, यह तस्वारकी धार
समान कठिन व्रत सत्पुरुषों को किसने उपदे
किया है ॥ ६७ ॥

करे श्लाघ्यस्त्यागः शिरसि गुरुपाद प्रणयिता ।
मुखे सत्या वाणी विजयिभुजयोर्वीर्यमतुल्यम्
इदि स्वस्था वृत्तिः श्रुतमधिगतेकव्रतकलं ।
विनाप्ये श्रयणप्रकृतिमदृतामंडनमिदम् ॥

(भा० टी०) हाथ दानमे, मस्तक घटे लोगोंके
पढ़नेसे, मुख सत्य बोलनेसे, दोनों भुजा अतुल्य पाद
से हृदय स्वच्छ वृत्तिमे, कान शस्त्र श्रवणमे, बड़ाई
योग्य होते हैं, और यही सत्पुरुषों के बिना ऐश्वर्य
भी भूषण है ॥ ६८ ॥

संगत्सु मदतां चित्तं भवत्युत्पलकोपलम्
आपत्सु च मदशैलशिलासंवातत्केशम् ॥

भा० टी०—संगति में मदारमा लोगोंका चित्त कम
उने नी कमल रत्ना है और आपत्ति में परत नी पत
यि यही तुल्य कठिन हो जाता है ॥ ६९ ॥

मंत्र दावनि धैर्यवरय पयलो नानावि न सादो ।

मुक्ताकारस्तथा तदेव नलिनी पत्रस्थितं राजते ॥
स्वात्यां सागरशुक्तिमध्यपतितं तन्मौक्तिकं जायते ।
प्रायेणाधममध्यमोत्तमगुणाः संसर्गतो देहिनाम् ॥

(भा० टीका) तस लोहेपर जलकी बूंद पडनेसे उस का नामभी नहीं रहता वही बूंद कमलके पत्रपर पडनेसे मोतीके सदृश शोभित होता है फिर वही बूंद स्वाति नक्षत्रमें समुद्रकी सोंपमें पडनेसे साक्षात् मोती होजाता है इससे यह सिद्ध हुया कि प्रायः अधम मध्यम और उत्तम गुण संसर्ग (संग) ही से होता है ॥ ६० ॥

यः प्रीणयेत्सुचरितैः पितरं सपुत्रो ।

यद्भर्तुरेव हितमिच्छति तत्कलत्रम् ॥

तन्मित्रमापदि सुखे च समाक्रियं य- ।

देतत्रयं जगति पुण्यकृतो लभन्ते ॥

(भाषा टी०) जो अपने चारित्र्यसे अपने पिताको प्रसन्न रखे ऐसा पुत्र, जो अपने पति का निरंतर हित चाहै ऐसी स्त्री, और जो आपत्ति और सुख दोनों में समान भाव रखे ऐसा मित्र, जगत में यह तीनों पुण्यवानही को मिलते हैं ॥ ६८ ॥

एको देवः केशवो वा शिवो वाः ।

एकं मित्रं भूपतिर्वा यतिर्वा ॥

एको दासः पत्तने वा वने वा ।

एका नारी सुन्दरी वा दरी वा ॥

(भा० टी०) एक देवको ग्रहण किया चाहिये केशव हो वा शिव, एक मित्र किया चाहिये राजा हो वा तपस्वी, एक जगह बसा चाहिये नगर हो वा वन, और एक सुन्दरी स्त्रीसे प्रीति हो वा कंदरा (गुहा) से ॥ ६६ ॥

नम्रत्वेनोन्नमन्तः परगुण कथनैः स्वान् गुणान् ।

ख्यापयन्तः स्वार्थान् सम्पादयन्तो विततप्रिय-
तरारम्भयत्नाः परार्थे ॥ क्षान्त्यैवाक्षेप रूक्षाक्षरमु-

खरमुखान् दुर्जनान् दूषयन्तः सन्तः साश्र्वर्य-
चर्यां जगति बहुमताः कस्य नाभ्यर्चनीयाः ॥

(भा० टी०) नम्रतासे ऊंचे होते और परगुण कथन करनेसे अपना गुण प्रसिद्ध करते हैं और निरंतर विस्तारपूर्वक परकार्य करने से अपना कार्य सम्पादन करते हैं और निन्दक दुष्टोंको अपनी क्षमाशी से दूषित कर देते हैं ऐसे आश्र्वर्य आचरणवाले बहुमाननीय संतुल्य जगत्में किसके पूजनीय नहीं हैं ॥ ७० ॥

इति सृजनप्रशंसा ।

भवीन्ति नम्रास्तस्यः फलोद्भूतम् ।

नृणां भूमिर्भूरि निलम्बिनो धनाः ॥

अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धिभेः ।

स्वभाव एव परोपकारिणाम् ॥ ७१ ॥

(भा० टीका) जैसे कल होने से वृक्ष नष्ट होते हैं, जैसे नदीन जल भरने से भेष भूमि पर झुक जाते हैं, ऐसे ही सत्पुरुष भी सम्पत्ति पायके उद्धत नहीं होते किंतु नष्टने हैं अर्थात् परोपकारी जीवों का यही स्वभाव ही है ॥ ७१ ॥

श्रोत्रं श्रुतेनैव न कुण्डलेन ।

दानेन पाणिनं तु कङ्कणेन ॥

विभाति कायः करुणावराणां ।

परोपकारेन तु चन्दनेन ॥ ७२ ॥

(भाषा टी०) कानकी शोभा शस्त्र ध्वज से है कुण्डल पहिरने से नहीं, हाथकी शोभा दान करने से है कङ्कण पहिरने से नहीं, करुणामय जनो के देखी शोभा परोपकार करने से है कुछ चन्दन लगाने से नहीं ॥ ७२ ॥

पापान्निवारयति योजयते दिताय ।

गुणं च गृहति गुणान् प्रकृष्य नरोति ॥

पापद्रवं च न जहाति ददाति काले ।

सन्निवृत्तजलमिदं नयदन्ति तन्तः ॥ ७३ ॥

(भा० टीका) मित्र को पाप करने से . व
और उसके हितकी बात उसे उपदेश करे,
बातको छिपावे, गुणों को प्रगट करे, आपरि
साध न छोड़े और समय पड़े पर यथा शक्ति
दे यह अच्छे मित्रों का लक्षण सन्तोंने कहा है

पद्माकरं दिनकरो विकचीकरोति ।

चन्द्रो विकाशयति कैरवचक्रवालम् ॥

नाभ्यर्थितो जलघरोऽपि जलं ददाति ।

सन्तः स्वयं परहिते सुकृताभियोगाः ॥

(भा० टी०) सूर्य बिना याचे स्वतः कम
समूह को विकसित करता है, चन्द्रमा बिना
कुमुद के समूह को प्रकुलित करता है और
बिना याचना किये सृष्टिमें जल देता है ऐसे ही
जन बिना याचेही पराये हित के हेतु आपसे
उद्योग करते हैं ॥ ७४ ॥

एके सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थं परित्यज्यं
सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाविरोधेन ये
तेऽर्था मानुषराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति
ये निघ्नन्ति निरर्थकं परहितं तेके न जानीमहे ॥७५॥

(भा० टी०) सत्पुरुष वे हैं जो

दूसरे के कार्य को साधते हैं, सामान्य पुरुष वे हैं जो अपने और पराये दोनों कार्यको साधन करते हैं, और अनुभ्यों में राक्षस वे पुरुष हैं जो अपने हितके अर्थ पराये कामको नष्ट करते हैं, और जो व्यर्थ दूसरे के कार्य की हानि करते हैं वे कैसे पुरुष हैं उन्हें हम नहीं जानते ॥ ७५ ॥

दीरेणात्मगतोदकाय द्विगुणा दत्ताः पुरा तेऽखिलाः ।
दीरे तापमवेक्ष्य तेनपयसा ह्यात्मा कृशानो हुतः ॥
गन्तुं पावकमुन्मनस्तदभवद्ब्रूया तु मित्रा पदं ।
युक्तं तेन जलेनशाम्पति सतां मैत्रा पुनस्त्वोदरी ७६

(भा० टी०)—दूध में जब जल मिला तो उस दूध ने अपना सब गुण और रूप अपने जल रूपी मित्रको दे दिया और फिर दूधमें ताप देखकर जलने अपना शरीर अग्नि में होम दिया अर्थात् जल गया फिर दूधने भी मित्रकी इस आपत्ति को देखकर अग्नि में गिरना चाहा फिर जलके छीटे पाके अपने मित्रको आया जान ठंडा हो बैठ गया सो उचित ही है क्योंकि सत्पुरुषों की मैत्री ऐसीही होती है ॥ ७६ ॥

इतः स्वपिति केशवः कुलमितस्तदीयद्विषा ।
मितश्च शरणार्थिनः शिखरिणां गणाः शेरते ॥

हृतोऽपि वडवानलः सह समस्तसंवर्तके ।

रहं विततमूर्जितम् भरसहं च सिन्धोर्वपुः७७

(भा० टी०) समुद्रमें एक ओर शेषाशायी विष्णु भगवान सोते हैं एक ओर विष्णु के शत्रु राक्षसन का कुल रहता है, एक ओर शरणार्थी पर्वतों के समूह पड़े हैं और एक ओर वडवानल प्रलयकी अग्नि सहित जलको आँटाय रहा है परन्तु इन सबोंसे वह कुछ नहीं घबराता है इससे यह जान पड़ा कि समुद्र का शरीर बड़ा विशाल बलवान् और भार सहने वाला है सारांश यह कि सत्पुरुष भी समुद्रवत् होते हैं ॥ ७७ ॥

तृष्णां त्रिन्धि भजक्षमां जहि मदं पापेरतिमा कृपाः ।
सत्यं ब्रह्मनुयाहि साधुपदवीं सेवस्व विद्वज्जनम् ॥
मान्यान्मानयः विद्विषोऽप्यनुनयप्रस्थापय स्वान्गुणां ।
कीर्तिं पालयदुःसिते कुरु दयामेनत्सतां लक्षणम् ७८

भा० टी०—तृष्णा का छेदन, क्षमा का सेवन, मद का त्याग, पाप संग प्रीति मत करो, सत्य बोधो, साधुजनों की मर्यादा (मार्ग) को प्राप्त हो, विद्वज्जनों का सेवन करो, मान्यजनों को मानो, शत्रुओं को भी प्रसन्न रखो, अपने गुणों को प्रसिद्ध करो, अपनी कीर्ति का पालन करो और दुःसितों पर दया

रुखो यही सत्पुरुषों के लक्षण हैं ॥ ७२ ॥

मनसि वचसि काये पुण्यर्पायूपपूर्णा ।

त्रिभुवनमुपकारश्रेणिभिः प्रीणयन्तः ॥

परगुण परमाणुपर्वतो कृत्यनित्यम् ।

निजहृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः ७३

भा० टी०—मन वाणी और शरीर में पुण्यरूपी
अमृत से भरे हुये त्रिभुवनको उपकारों से तृप्त करने
वाले और परमाणु सरीसे अल्प पराये गुणों को पर्वत
सा बढाके अपने हृदय में प्रसन्न होने वाले कोई
विरले ही सन्त हैं ॥ ७३ ॥

किं तेन हेमगिरिणा रजताद्रिणा वा ।

यत्राश्रिताश्च तरवस्तरवस्त एव ॥

मन्यामहे मलयमेव यदा ध्रुवेण ।

कङ्कोलनिवकुटजा अपि चन्दनाः स्युः ॥ ७४ ॥

(भा० टी०) उस सोने के सुमेरु पर्वतसे हमको
ज्या और चाँदी के कैलाश से भी क्या कि जिसके
आश्रित वृक्ष सदा जैसे के तैसेही बने रहें, हमतो
मलयाचलको श्रेष्ठ मानते हैं कि जहाँ रङ्गोल नीम
और कुटजादि बहुत बृक्ष भी सब चन्दन हो
जाते हैं ॥ ७४ ॥

अथ धैर्यं प्रशंसा ।

स्त्वैर्महोदस्तुतुर्न देवा नः

भेजिरे भीम विषेण भीतिम् ॥

मुधां विनानायस्वर्त्तिरामः

न निजिताथार्द्रिरमन्तिपीराः ॥ ८१ ॥

भा० टीका—अनमोल सन पाकर देवाओं ने
मनुष्य को समुद्र का मथना न छोड़ा और मथना
विजय भी मथनीय हुआ मथने उद्योग से न बूझे,
इसका मनुष्य निकले विप्राय न लिया हमसे यह कि
दुष्टा कि नारे ओम मथने निजित अर्थ हो विप्रा
मथक के ॥ ८१ ॥ न जाय क न जाय वेद मथने ॥ ८२ ॥

इति मनुष्यो मथना मथनीय न मथेत् मथनम् ।

मथनं मथनीयम् ॥ ८१ ॥ ८२ ॥ ८३ ॥ ८४ ॥ ८५ ॥ ८६ ॥ ८७ ॥ ८८ ॥ ८९ ॥ ९० ॥

इति मनुष्यो मथना मथनीय न मथेत् मथनम् ।

मथनं मथनीयम् ॥ ८१ ॥ ८२ ॥ ८३ ॥ ८४ ॥ ८५ ॥ ८६ ॥ ८७ ॥ ८८ ॥ ८९ ॥ ९० ॥

इति मनुष्यो मथना मथनीय न मथेत् मथनम् ।

मथनं मथनीयम् ॥ ८१ ॥ ८२ ॥ ८३ ॥ ८४ ॥ ८५ ॥ ८६ ॥ ८७ ॥ ८८ ॥ ८९ ॥ ९० ॥

इति मनुष्यो मथना मथनीय न मथेत् मथनम् ।

मथनं मथनीयम् ॥ ८१ ॥ ८२ ॥ ८३ ॥ ८४ ॥ ८५ ॥ ८६ ॥ ८७ ॥ ८८ ॥ ८९ ॥ ९० ॥

इति मनुष्यो मथना मथनीय न मथेत् मथनम् ।

मथनं मथनीयम् ॥ ८१ ॥ ८२ ॥ ८३ ॥ ८४ ॥ ८५ ॥ ८६ ॥ ८७ ॥ ८८ ॥ ८९ ॥ ९० ॥

सुख दुःख दोनों को नहीं गिनते ॥ ८२ ॥
 स्य विभूषणं सुजनता शौर्यस्य वाक्संयमो ।
 योऽशमःश्रुतस्य विनयो धित्तस्य पात्रे व्ययः ॥
 यस्तपसः क्षमा प्रभवितुर्धर्मस्य निर्व्याजता ।
 तमपि सर्वकारणमिदं शीलं परं भूषणम् ॥ ८३ ॥
 भा० टीका) ऐश्वर्यका भूषण सज्जनता शूरताका-
 न्यम अर्थात् अभिमानके वचन न कहना, ज्ञान
 दाति, शाल्वपढने का विनय, धर्मका पात्रको देना,
 त्या का क्रोध न करना, प्रभुता का क्षमा, धर्मका
 लता, अन्य सर्व गुणों का भूषण और कारण
 है ॥ ८३ ॥

निन्दन्तुं नीतिनिपुणा यदिवा स्तुवन्तु लक्ष्मीः ।
 समादेशतु गच्छतु वा यथेष्टम् ॥
 अथैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा ।
 यावदात्मधः विचलन्ति पदं न धाराः ॥ ८४ ॥

(भा० टीका) नीति जाननेवाले चाहें निंदा करें चाहें
 स्तुति, और लक्ष्मी चाहें धर्म बहुतसी आवे चाहे
 चली जाय, प्राण चाहें अभी जाय चाहें कल्याण में,
 परन्तु धार लोग न्यायका मार्ग छोड़कर एक पगभी
 उत्तरे बाहर नहीं चलते ॥ ८४ ॥

भगवाण् कण्डपीडिततनोम्लानेन्द्रियस्य क्षु
 कृत्वाखुर्विवरं स्वयं निपातितो नक्तं मुखे भोगिनः
 तृप्तस्ततिशितेन सत्वरमसो तेनैव यातःपथा
 लोकाःपश्यतेदेवमेवहिनृणांवृद्धोक्षयेकारणम् ॥ -

(भाषा टी०) ऐसा सर्प जिसे जीवनकी अ
 नहीं पिटारे में बंद रहने से उसका शरीर पीड़ित
 और जुवा से उसकी सब इंद्रियां शिथिल हो गईं
 मूक (चुड़ा) गतको उस पिटारे में छेद करके
 से उस सर्प के मुख में गिरा वह उस मूसे के मांसे
 तृप्त होकर उसी छेदके रस्तेसे निकल गया सो दे
 देतो कि ऐसेही मनुष्यों के क्षय और वृद्धि में दे
 कारण दे ॥ ८५ ॥

पानिनामपि कृमावतिष्ठतत्येव रुन्दुकः ।

प्रायण मायु वृत्तानामभ्या पिन्यो निपत्य-

(भा० टी०)-दायां की ताड़ना से निपटानो
 इतनेही उच्छ्रिता है इस से यह प्रसन्न हुआ कि म
 मन्त्रों के सिद्धि प्रायश्चित्त नदी होती ॥ ८६ ॥

आत्मोद्भिदमनुप्राप्तो यशस्व्यो मदार रिपुः

नरन्नुद्यमयो वन्द्यो कृता नामोद्भि ॥

(भा० टी०) आत्मव्य मनुष्यों के शरीर में म

नत्र हे, उद्योग समान दूसरा बंधु नहीं कि जिसके करनेसे दुःख नहीं आता ॥ ८० ॥

द्विन्नोऽपिरोदति तरुःक्षीणोप्युपचीयते पुनश्चन्द्रः ।
इति विमृशंतः सन्तः संतप्यन्ते न विप्लुता लोके ॥

(भा० टी०) छांटानुआ वृक्ष फिर बढ़कर फैलजाता है, चंद्रमा क्षीण होकर फिर बढ़कर पूर्ण होजाता है, इस से विचार करनेवाले संत विपत्ति से संतापको प्राप्त नहीं होते ॥ ८८ ॥

इति धैर्यं प्रशंसा । अथ देवप्रशंसा ।

नेतायस्य वृहस्पतिःप्रहरणं वज्रं मुराः सैनिकाः ।

स्वर्गो दुर्गमनिग्रहःकिल हरेरैश्वतोवारणः ॥

इत्यैश्वर्यवान्वितोऽविचलिभिर्भक्तःपरैः संगरे ।

तद्व्यक्तंरमेव देवशरणं धिग्धिग्बृथापोरुपम् ॥

(भा० टीका) वृहस्पति ऐसे भंत्री, वज्र ऐसा शस्त्र, देवताओंकी सेना ऐसी सेना, स्वर्ग ऐसा गढ़, ऐरावतसा चढनेको हाथी और तिसपर विष्णु का पूर्ण अनुग्रह तोभी ऐसे आचर्य की सामग्री वाला इंद्र शत्रुओं से संग्राम में हारनाही रहा, इससे यह सिद्ध हुआकि देव ही मुख्यकर शरण के योग्य है पुष्टार्थ वृथा है और उसको धिक्कार है ॥ ८९ ॥

कर्मायत्तं फलं पुमां बुद्धिः कर्मानुगारिणी ।

तथापि सुधिया भाग्यं सुविचार्यैव कुर्वता ॥

(भा० टी०) यद्यपि मनुष्यों को फल कर्म के अनुसार ही मिलते हैं और बुद्धि भी हमें के अनुसार होजाती है तो भी बुद्धिमानों को विचार ही के काम करना चाहिये ॥ ६० ॥

खल्वाटो दिवमेश्वरस्य किर्णैः मंतापितो मस्तके ।
वाञ्छन्देशमनात्पं विधिवशात्तालम्य मूलं गतः ॥
तत्राप्यस्य महाफलेन पतता भग्नं मशब्दं शिरः ।
प्रायो गच्छति यत्र भाग्यं रहितस्तत्रैवयांत्यापदः ॥

(भा० टी०) खल्वाट अर्थात् गंजा पुरुष का सिर सूर्य की किर्णों में जलने लगा तब वह छाया की इच्छा करता हुआ दैवमयोग में ताल के वृक्ष के नीचे जा खड़ा हुआ तहां जाते ही शीघ्र बड़ा फल ऊपर से सिर पर गिरा उसका सिर फूटा तिसका बड़ा शब्द हुआ इससे यह भिन्न हुआ कि भाग्यहीन पुरुष जहां जाता है वहां विपत्ति भी उसके साथ ही साथ जाती है ॥ ६१ ॥

शशिदिनाकरयोऽग्निद्वीपे न गजभुजङ्गमयोरपि बंधनश्रु-
मतिमतां च विलोक्य दरिद्रतां विधिरहो बलवानिति
मे मतिः ॥ ६२ ॥

भा० टी०—इाधी और सर्व इन दोनोंको चन्द्रमा देखतेहैं चन्द्रमा और सूर्यकोभी राहुग्रहसे पीडित देखते हैं, और पंडितोंको दरिद्री देखते हैं इससे हमारे समक्ष में विधाताही बलवान दीख पड़ता है ॥ ६३ ॥

सृजति तावदशेषगुणाकरं ।

पुरुषरत्नमलंकरणं भुयः ॥

तदपितत्क्षणभङ्गिरुरोतिचे- ।

दृष्ट्वा कष्टमपि दृष्ट्वा विधे ॥

भा० टीका—प्रथम विधाता पुरुषरत्नको सब गुणोंवाला बनाता है और पृथ्वी का भूषण रचता है परन्तु उसका नाश क्षणभंगुर करते हैं यह बड़े दुःखनी बात है और इसमें विधाताही मूर्खता जान पड़ती है ॥ ६३ ॥

पत्रं नैव यदा करारविटपे दोषो वसन्तस्य किं नोल्कोऽप्यपलोत्ते यदि दिवा सूर्यस्य किं दृषणम् ।
धारानैव पतन्ति वातकमुत्ते मेघस्य किं दृषणं यत्पूर्वं विधिना ललाट लिखितं तन्मार्जितुं रुच्यमः ।

। (भा० टी०) कीरके वृद्ध मं पत्ते नहीं लगते तो इसमें वसन्तकाल का क्या दोष है, पूरु पक्षी दिनमें नहीं देखता तो सूर्य का इसमें क्या दोष है और

इसमें मेघका क्या दोष है, इससे यह जान पड़ता है
विधाता ने जो प्रथम ललाट में लिखा दिया है उस
मिटाने की किसीको सामर्थ्य नहीं है ॥ ६४ ॥

अथ कर्म प्रशंसा ।

नमस्यामो देवाननु हतविघ्नेऽपि वरागा ।

विधिर्वन्द्यः सोऽपि प्रातिनियतकर्मकफलदः
फलं कर्मागत्तं किममरगणेः किं विधिना ।

नमस्तत्कर्मभ्यो विधिरपि न येभ्यः प्रभवति

भा० टी०—देवताओं को हम नमस्कार करते
परन्तु उनको विधाता के वश में रहने हैं इसलिये
विधाता को नमस्कार करने में पर विधाता भी हम
पूरे निमित्त कर्म के अनुसार फल देता है किन्तु
फल और विधान दोनों हमें के आधान हैं ता नव
अतः विधानों क्या काम है इस कारण से कर्मों को
नमस्कार है क्योंकि विधान ही जो मान्यो निमित्त
नहीं रहता ॥ ६५ ॥

देवताएँ इसी अन्तिमविधाता वशात् भाग्यमोदो-
दित्युक्तं इति । नमस्तत्कर्मभ्यो विधिर्वन्द्यः ॥

इसमें कोई दोष नहीं है कि पूरे निमित्त भाग्य-
मोदित्युक्तं इति । नमस्तत्कर्मभ्यो विधिर्वन्द्यः ॥

भा० टीका) जिस कर्म ने प्रजाको कुम्हार के समान निरंतर प्रजांड रचनाके हेतु बनाया, और विष्णु को घारंगार दस अवतार ग्रहण करने के मंकेट में टाका और दद्रको कपाल हाथमें लेकर निष्ठा मांगने के नट में एगता और सूर्य को आकाशमें निज प्रमथ धन में डाला उस कर्मको प्रणाम है ॥ ९६ ॥

नेमःकृतिःफलति नेव कुलं न शीलं ।

विद्यापि नेव न च यत्नकृतापि मेवा ॥

भग्यानि पूर्वतपसा सत्तुमन्वितानि ।

काले फलन्ति पुरुषाय यमेव बुद्ध्याः ॥

(भा० टीका) पुरुषकी सुन्दर आर्कृत पुत्र पालनहीं देती और न उत्तम कुल, शील, विद्या, और यत्न करने कीहुई सेवाभी फल नहीं देती एक पूर्वतपसाके संचित किये हुए भाग्यही मनुष्यों को समय समय पर फल के तुल्य फल देते हैं ॥ ९७ ॥

यने एणे शत्रुजलाग्निभ्ये मदार्यवे परेतमन्त्रके रा ।
मुपममत्तंरिपम रिपतंमारुगित पुम्बानि पुट्ठानि

(भा० टी०) जन, रण, शत्रु, अग्नि, मन्त्र, पुम्बानि, पुट्ठानि, सगुह में परेत के मंकेट में लगे हुए, मन्त्र, पुम्बानि, पुट्ठानि, रिपम, अरुगित में पुट्ठ के लगे हुए, पुम्बानि, पुट्ठानि, लगे हुए हैं ॥ ९८ ॥

या साधूंश्च खलान्करोति विदुषो मूर्खा
 प्रत्यक्षं कुरुते परोक्षम मृतं हलाहलं
 तामाराधय सत्क्रियां भगवतीं भोक्तुं फलं
 हे साधो व्यसनेर्गुणेषु विपुलेष्वा स्थां वृथा

(भा० टी०) जो सत्क्रिया खलोंको
 और मूर्खों को पंडितता, शत्रुओंको मित्रता
 को प्रगट और विषको अमृत करदेती है
 रूपी भगवती की आराधना करो, हे साधु
 वांछित फल मोगा चाहो तो कष्ट और दूष
 गुणों के साधनमें व्यथा श्रम न करो ॥ ६६

गुणवदगुणवद्वा कुर्यात्ता कायमादौ ।

परिणतिस्वर्धायां यत्नतः पंडितेन ॥

अतिरम्यकृतानां कर्मणामाविषत्ते ।

भर्तृहरिदयदाहो शन्यकुण्या निगमः ।

(भा० टी०) कोई कार्य योग्य हो अथवा न

हो अथवा कर्मयोग्य हो अथवा न अथवा परिणाम

हो अथवा न अथवा परिणाम अथवा न अथवा परिणाम

अथवा न अथवा परिणाम अथवा न अथवा परिणाम

अथवा न अथवा परिणाम अथवा न अथवा परिणाम

शैलाङ्गलाग्रैर्विलिखन्ति यमुधामर्कमूलस्य हेतोः ॥
 पाकर्पूरसंडान्वृतिमिह कुरुते कोदवाणांसमंतात् ॥
 त्वां कर्मभूमिं न चरति मनुजोयस्तपो मंद भाग्यः
 (भा० टी०) कह पुरुष मानो मत्कतमणि के
 नि में लहशुनको चंदनके ईधन से पकात्म है और
 में सोने का हल चलाकर आक पृथकी जड़को
 देने के हेतु निकालता है और कपूर के टुकड़े ठोके
 कर कोदो के चारों ओर दंडकर घनाता है
 मंदभागी मनुष्य इस कर्म भूमिमें जाकर तप नहीं
 ॥ १०१ ॥

त्रत्वम्भसि यातु मेरुशिखरं शत्रूञ्जय त्वाहये ।
 ऐज्यं कृपिमेपनादिसफला विद्याः कलाः शिखतु ॥
 काशं विपुलं प्रयातु खगवत्कृत्वा प्रयत्नं परं ॥
 भाव्यं भवतां कर्मवशतो भाव्यस्य नाशः कुतः ॥
 (भा० टी०) चाहे समुद्रमें डूबो चाहे समुद्रके तिर
 चढ़ जायो चाहे घोर संग्राम में शत्रुओं को जीतो
 है और यनिज सेना से वा आदि विद्याकी नाना
 प्रयोगों और आकाश में पक्षीके समान बड़े यत्न मे
 प्रयत्न पर मनहोनी नहीं छोटी और जो कर्म वश
 तो है सो नहीं टलती ॥ १०२ ॥

भर्तृहरिचरितम् ।

भीमं वनं भवति तस्य पुरं प्रधानं ।

सर्वो जनः सुजनतामुपयाति तस्य ॥

हरिना च भूर्भवति सन्निधिरत्नपूर्णा ।

यस्यास्ति पूर्वसुकृतं विपुलं नरस्य ॥

(भा० टी०) भयानक वन उस पुरुष के लिये
अच्छा नगर होजाता है और सब जन उसके भित्र
होजाते हैं और सम्पूर्ण पृथ्वी उसके निकट रत्नों से
परिपूर्ण होजाती है जिस पुरुषका पूर्व जन्मका बहुतसा,
संचय किया गया पुण्य है ॥ १०३ ॥

अथ प्रत्यन्तरे श्लोकाः ।

को लाभ गुणिसङ्गः किमसुखं प्राप्तेः संगतिः ।

का हानिः सगयच्युतिर्निगुणता का घर्मतत्वे रतिः ।

कः शूरोभिजितेन्द्रियः पियम्भा कानुव्रता किं वनं

निया किं सुसगन्धवासगमनं राज्यं किमाज्ञाफलं ।

भा० टीका—लाभ क्या है गुणियों की संगति,
दुःख क्या मृत्यु का संग, हानि क्या समय पर नृकृता,
निगुणता क्या घर्म में रति होना, शूर कौन है जिसने
इन्द्रियों को बश में किया, स्त्री कौन अच्छी है, ओ
अनुकूल दे, घन क्या है निया, सुस क्या है परवश
होना, राज्य क्या है अपनी आज्ञा चलना ॥ १०४ ॥

मालतीकुटुमस्येवद्वेगतीह मनस्विनः ।

गुणि वा सर्वलोकस्य शीयेते वन एव वा ॥

भा० टी०—मालती के फूलों के समान मनस्वी
(पीर) पुष्पकी दो वृत्ति होती हैं या तो सब लोगों
के मस्तक पर रहें अथवा घननेही नष्ट होजायें ॥ १०५

अप्रिय वचनदस्त्रिः प्रिय वचनाद्व्यः स्वस्वरूपस्तिष्ठेः ।
परपत्न्यादनिवृत्तेः क्वचित्कचिर्मांडिता वसुधा ॥

(भा० टी०) अप्रिय वचनके तो दरिद्र प्रिय वचनों
से मंथन अपनीही स्त्रोसे मंथुष्ट और पाराई निंदा से
रहित जग पुरुष हैं उनसे कहीं कहीं ही पृथ्वी शोथ्य-
मानें ह अर्थात् ऐसे पुरुष सब और नहीं होते ॥ १०६ ॥

कदर्थितस्यापि हि धैर्यवृत्तेर्मा ।

धनस्यैव धैर्यवान् वेदित्वा

यत्नयते धैर्यगुणा प्रमाणम् ॥

हेन मन्दाकर

धैर्यवान्, (जन्मजात)

अधोमुखस्यापि कृतस्य वद्वेनाधिः ।

शिक्षा सति कदाचिदेव ॥ १०७ ॥

(भाषा टी०) छेदित जन यदि धैर्यवृत्तिवाला होय
तो उनकी धैर्यवृत्तिको नहीं मिटा सका जैसे प्रज्वलित
अग्निको उलट दे तोभी ज्वाला ऊपर ही को रहती है
नीचे नहीं जाती ॥ १०७ ॥

कान्ताकटाक्षविशिखा न दहन्ति यस्य ।

चित्तं न निर्दहति कोपकृशानुतापः ॥

कर्पन्ति भूरिविषयाश्च न लोभपाशैः ॥

लोकत्रयं जयति कृत्स्नभिर्दं स धीरः ॥

भा० टी०—स्त्रियों के कटाक्ष रूपी घाण जिसके चित्तको नहीं बेधते और क्रोध रूपी अग्निकी आंच जिसके चित्तको नहीं जलाती और इंद्रियों के विषय लोभ कांसी में डालकर जिसके चित्तको नहीं खींचते वही धीर पुरुष तीनों लोक को जीतता है ॥ १०८ ॥

एकेनापिद्विशूरेण पादाकान्तं मर्हातलम् ।

क्रियते भास्करेणैवपरिस्फुरिततेजसा ॥

(भा० टी०) एकही अकेला शूर सारी पृथ्वी को पांव तले दबाकर बस कर लेता है जैसे अकेला तेजस्वी सूर्य सारे जगत्को प्रकाशित करता है ॥ १०९ ॥

वद्विस्तस्यजलायतेजलानिधिःकुल्यायते तत्क्षणाग्नेरुः
स्वर्चां शिलायते मृगपतिः सद्यः कुसुमायते ॥

व्यालोमाव्यगुणायते विषरसः पीयूषवर्षायते ।

यम्यामन्त्रिलोकवत्सलभतमशीलसमुन्मीलति ॥

(भा० टी०) अग्नि उस पुरुष को जड़के समान ज्ञान पड़ती है, और समुद्र स्वर्ण नदीसा उसमें तटभाट दीप्त पड़ता है, मेघावत स्वर्ण शिलाके तुल्य

वृक्ष पडता है, सिंह शीघ्रही उसके आगे हिरन बन जाता है, सर्प उसके लिये फूलकी माला सा बनजाता है और विपरस उस पुरुषको अमृतकी वृष्टि के समान होजाता है जिस पुरुष के श्रंग में समस्त जगत् का मोहने वाला शील प्रकाशमान है ॥ ११० ॥

लज्जागुणौघजननीं जननीमिव स्वा- ।

मत्यन्तशुद्धहृदयामनुवर्तमानाम् ॥

तेजस्विनः सुखमसृनपि संत्यजन्ति ।

सत्यव्रतव्यसनिनोऽपुनः प्रतिज्ञाम् ॥

(भा० टीका) लज्जादि गुणों के समूहको उत्पन्न करने वाली और अपनी माता के समान शुद्ध हृदय और स्वार्धान रहने वाली प्रतिज्ञाको तेजस्वी और सत्य व्रत के धारण करने वाले पुरुष नहीं छोड़ते परन्तु अपना प्राणभी सुखसे त्याग करदेते हैं ॥ १११ ॥

इति भर्तृहरिकृत नीतिशतकं की

भाषा टीका सम्पूर्णा ।

श्रीभर्तृहरिकृतं नीतिशतकं समाप्तम् ।



अथ भर्तृहरिविरचितम् ।

(शृंगारशतकं प्रारम्भ्यते)

शम्भुस्ववंभुश्चरयो हरिणेक्षणानां ।

येनाक्रियन्त सत्ततं गृहकर्मदासाः ॥

वाचा मगोचरस्वरित्रविचित्रताय ।

तस्मै नमो भगवते कुसुमायुधाय ॥ १ ॥

(भा० टीका) जिसने शिव ब्रह्मा और विष्णु को
भी त्रियों के गृहकार्य करनेके लिये दास बना रखा
है और विचित्र में चतुर जिसका वर्णन नहीं होसका
ऐसे पुण्यायुध कामदेवको नमस्कार है ॥ १ ॥

स्मितेन भावेन च खञ्जया भिया ।

पराङ्मुखैरद्रेकटाक्षोद्यैः ॥

वचोभिरन्याकुन्देन लीलया ।

समस्तभाविः खलु बन्धनं त्रियः ॥ २ ॥

(भा० टीका) मंद मुसकाना, लज्जित होना, मुख
पर लाल, द्रेकटाक्षसे देखना, यथु यच्छ से बोलना,

ईर्ष्यासे कलह करना और अनेक चरित्र दिखाना इन सब प्रकारों से स्त्री बंधन रूपही है ॥ २ ॥

अचातुयाकुंचिताक्षाः कटाक्षाः ।

ल्लिग्धा वाचो लज्जिताश्चैव हासाः ॥

लीला मन्दं प्रस्थितं च स्थितं च ।

स्नागामेतद्रूपं चायुधं च ॥ ३ ॥

(भा० टी०) भीड़ फेरनेकी चतुराई, अर्ध नेत्र से कटाक्ष चलाना मीठी बातें बोलना, उज्जित हो हंसना, लीला में मंद मंद चलना और धूम के लठे होजाना स्त्रियोंके यह सबज गुण और शस्त्र अर्थात् इन्हीं भावों से पुरुषों को मारती हैं ॥ ३ ॥

क्वचित्सुभ्रमंगेः क्वचिदपि च लज्जा परिणते ।

क्वचिर्नातिव्रस्तेः क्वचिदपि च लीलाविलासतेः ॥

नवोढानामेभिर्वदनक्रमलेनैत्रचलितेः ।

स्फुरन्नालाब्जानां प्रकरपरिपूर्णा इव दृशः ॥ ४ ॥

(भा० टी०) किसी समय सुन्दर भीड़ से कटाक्ष करता, कभी लज्जासे शोभायमान दिखाई पड़ता कभी भगते भीत होता और कभी लीलाही से दिखावों को धारण करता है इसभांति नेत्रोंसे शोभित नवोन्मिलित स्त्रियों का जो मुख कमल है उससे दृष्टि ऐसी व्यक्त हो रही है जैसे नील कमल के समुद्रसे ॥ ४ ॥

वक्रं चन्द्रविकासि पङ्कजपरीहासक्षमे लोचने ।
 वर्णःस्वर्णमपाकरिष्णुरलितनीजिष्णुः कचानाञ्चयः ॥
 वक्षोजाविभक्तुम्भसंभ्रमहरोर्गुर्वीनितं वस्वली ।
 वाचां हारि च मार्दवं युवतिषु स्वाभाविकं मंडनं ॥

(भा० टी०) चन्द्रमा को फीका करनेवाला मुख,
 कमल के हंसने वाला नेत्र, सुवर्णकी दमक को मंद
 करनेवाली देहकी कांति, भौरों के पुंजको जीतनेवाले
 केश, गजमस्तककी शोभाहरनेवाले स्तन और विशाल
 भारी दोनों नितंब और मन कोमलबाणा हरने वाली
 ये सब स्त्रियों में स्वाभाविक भूषण हैं ॥ ५ ॥

स्मितं किञ्चिद्भ्रके सरलतरलो दृष्टि विभवः ।

परिप्यंदो वाचामभिनवविलासोक्तिसरनः ॥

गतीनामारम्भः किसलयितलीलापरिकरः ।

स्पृशन्त्यास्तारुण्यं किमिहिन हिरम्यं मृगदृशः

(भा० टी०) मंद मुसुकुता हुआ मुख, सीधे और
 चंचल दृष्टि पात करना, नये नये विलास उक्तिसे सरस
 बात करना, लीला से कमल के समान मंद मंद गति
 से गमनका आरम्भ करना, युवा अवस्था चढ़तेही क्या
 क्या सुन्दर दाय भाव स्त्रियोंमें नहीं उत्पन्न होते ॥ ६ ॥

द्रष्टव्येषु किमुत्तमं मृगदृशां प्रेमप्रसन्नं मुखं ।

मातव्येष्वपि किं तदास्त्रिपवनः श्राव्येषु किंतद्वचः ॥

किं स्वाद्येषु तदोष्णपल्लवरसः स्पृश्येषु किं तत्तनु ।

भ्येयं किं नवयोवनं सुहृदयेः सर्वत्र तद्विधमः ॥७॥

(भा० टी०) रतिकों के देखने योग्य वस्तुओं में
उत्तम वस्तु क्या है मृगनयनी नायकों का प्रेमसे प्रसन्न
पदन, सुंघनेकी वस्तुमें उनके मुखकी भाफ, सुनने में
मधुरवाणी, स्वादिक वस्तुमें उनके अधर पल्लवका रस,
स्पर्शकी वस्तु में उनका शरीर, और ध्यान करने के
योग्य उनका यौवन और विभास है ॥ ७ ॥

एताः स्खलदल्यसंहतिमेखलोत्थः

भङ्गार नूपुर खादत राजहंस्य- ॥

कुर्वन्ति कस्य न मनो विवशं तरुण्यो ।

वित्रस्तमुग्धहरिणो संदंशोः कटाक्षैः ॥ ८ ॥

(भाषा टी०) ऐसी स्त्रियां जिनके चंचल कंकणोंके
शब्द क्षुद्र धंटिका (कौंदनी) की ध्वनि और नूपुर
के झनकार ने राजहंसियोंकी चाल जीत लिया है
वे तरुणी भङ्गकी हरिणों के समान नेत्रपात कर किसके
मनको विवश नहीं करती ॥ ८ ॥

कुंकुमपद्मकलङ्कितदेहा गौरपयोधर कम्पित- ॥

नूपुरहंसरणत्पदभङ्गाकं न वशीकरोते ॥ ९ ॥

भा० टी०—फेवर जैसा चन्दन में जिनकी देह
शोभित हो रही है गोरे गोरे स्तनों पर हार झूमता है और
घाण कमल में हंस से नूपुर बोलते हैं प्रेमी मुन्दर लियों
इस पृथ्वी पर कित्त पुरुष का मन नहीं मोह लेती । ८

नूनं हि ते कविवरा विपरीतबोधा ।

येनित्यनाहुस्वला इति कामिनीनाम् ॥

याभिर्विलोल तस्तास्क दृष्टिगतेः ।

शक्रादप्यपि विजितास्त्यवलाः कथंताः ॥

(भा० टी०) वे श्रेष्ठ कवि निश्चित उलटी समझ
वाले हैं जिन्होंने लियों का नाम अवला रक्खा है ।
जिनकी चंचल पुतलियों के कटाक्षमें इन्द्रादिकभी हार
मानते हैं भला कहो तो वे अवला कैसे हैं ॥ १० ॥

नूनमाज्ञाकरस्तस्याः सुध्रुवो मकरध्वजः ।

यतस्तन्नेत्रसंचारसूचितेषु प्रवर्तते ॥ ११ ॥

(भा० टी०)—कामदेव निश्चय करके लियों का
आज्ञाकारी सेवक है क्योंकि जिसे वह आंखों से सैन्य
कर देती हैं उसी पुरुषको दवा लेती हैं ॥ ११ ॥

केशाः संयमिनः श्रुतेरपि परं पारं गते लोचने ।
अन्तर्वक्त्रमपि स्वभावशुचिभिः कीर्णं द्विजानां गणैः
मुक्तानां सतताधिवासरुचिरं वक्षोवकुम्भद्वय- ।

मित्तं तन्नि चतुःपन्थांतमपितेक्षोभं करोत्तेनः ॥

(भा० टी०) केत संयमी है अर्थात् सुगंधित तैल युक्त कंधोमे संशो, नेत्र दोनों क्षुतिके पार होगये हैं अर्थात् कानोंतक अत्यन्त विशाल हैं, मुख अन्तर से सदाजही शुचि अर्थात् विमल है और द्विजों के समूहसे भरे अर्थात् दांतोंकी पंक्ति के किरण से चमकते, और दोनों स्तन कलश से मुक्ता का वास निरंतर अर्थात् मोतिपोंकी माळासे शोभित हैं, सुन्दर अंगवाली स्त्री तरा शरीर शांतस्वरूपनी है अर्थात् संयमी नियमी क्षुति वेद का पारगामी शुचि पवित्र द्विज ब्राह्मण और मुक्त विरक्त पुरुष इनसे युक्त है, पर मुझे तो अनुरागही उत्पन्न करता है ॥ १२ ॥

मुग्धे घानुष्कता केयमपूर्वा त्वयि दृश्यते ।

यथा हरसिचेतांसि गुणैरेव नसायकः ॥

(भा० टीका) हे सुन्दरी तेरी यह चतुष दिवा में फुललता विचित्र देख पडती है जो सर्व० चित्तने गुण अर्थात् प्रत्यंचा वा चतुराई ही से बोलती है घाण से नहीं ॥ १३ ॥

सति प्रदोषे सत्यमौ सत्यु ताराखीन्दुषु ।

विना मे प्रमशावाच्या तमो भूतमिदं जगत् ॥

(भा० टी०) दोपक, आग्नि, तारे मूर्ति, और नन्द
ये सब हैं परन्तु एक मृगनयनी मेरी स्त्री बिना
सब जग अंधरा है ॥ १४ ॥

यद्धृत्तःस्तनभार एष तस्मै नेत्रे चलं भ्रूलते ।
रागान्धेषु तदोष्ठल्लव्यमिदं कुर्वन्तु नाम व्ययाम् ।
सौभाग्यात्तर पंक्तिरिव लिखिता पुण्यायुधेन स्वयं ।
मध्यस्थापि करोति तापमधिकं रोमावली केन सा

(भा० टीका) उन्नत स्तनके भार चंचल नेत्र और
भ्रूलता और राग भरे नवीन पत्तों से दोनों अधर पल्लव
ये रागसे अथ रसिकोंके शरीरमें पीडा करें तो करें क
कि कामदेवके हाथकी लिखी तेरे मस्तक में सौभाग्य
अक्षरोंकी पंक्ति है परन्तु मध्यस्थ रोमावली क्यों अधि
ताप देती है तात्पर्य यह है कि उन्नत चंचल रागवा
प्रायः पीडादेताहीहै परन्तु मध्यस्थ जिसका काम छुड़ा
का है वह रोमावली क्यों अधिक पीडा देती है अर्थात्
विपरीत करती है ॥ १५ ॥

गुरुणा स्तनभारेण मुखचन्द्रेण भास्वता ।

शनैश्चराम्भ्यां पादाभ्यां रेजे ग्रह मयोव सा ॥

(भा० टी०) स्तनोंके भारसे गुरु प्रकाशमान मुख
चंद्र और दानों चरण से मंदगामी ग्रहमयसी वह ली

मोक्ष देती है अर्थात् गुरु गृहस्थानि भद्रनाभी स्थान धेनु
प्रसिद्ध है है इन मन्त्रोंका जाननी प्रकाशित है ॥१५॥

तस्याः रतनौ यदि धनौ जपनं विहारि ।

वरं च धारु तव चिन्तितमाकुलत्वम् ।

पुण्यं कुरुष्व यदि तेषु तयास्ति वाञ्छा ।

पुण्यैर्हिना न हि भवन्ति समोदितार्याः ॥

(भा० टी०) जिस स्त्रीके स्तन पुष्ट और अंघ्रि
विहार करने योग्य हैं और मुख सुन्दर है तो उन्हें देख
कर है चित्त धरो व्याकुल होता है यदि उनमें तेशी
धांड़ा होय तो पुण्य कर क्योंकि पुण्य बिना मनोरथ
हिन्द नहीं होते ॥ १७ ॥

मातृव्यमुन्मायं विचार्यकार्यम् ।

मार्याः समर्थादामिदं वदन्तु ॥

सध्या नितम्बाः किलभूधराणा ।

मुतस्मरस्मेर विलासिर्नानाम् ।

(भा० टी०) हे पंडितो मत्सस्तार्याणि और मर्यादा
सहित विचार कर कहो के तो पर्वतही के नितंब सेवने
योग्य है कि कामदेवभी उमंगसे मुसुकुराती विलासिनी
दियोंके नितंबही मेवने योग्य है नितंब पर्वतके मध्यभाग
और द्वियोंके कटोके पश्चात्तु भागको कहते हैं ॥१८॥

संसारेऽस्मिन्नसारे परिणतितरले जे गती परिउतानीं
 तत्त्वज्ञानामृतारम्भः प्लुतललित धियां यातुकाब्जं
 कदाचिन् ॥ नोचेन्मुग्धाङ्गनानां स्तनजघनभामो
 संभोगिनीनां । स्थूलोपस्थस्थलीषु स्थगितकरतल
 स्पर्श लोलोद्यतानाम् ॥ १६ ॥

(भा० टी०) यह असार संसार जितकी अं
 श्रवस्था अति चंचल है उस में पंडितों के हेतु देश
 सुलभगति हैं कै तो तत्त्वज्ञानरूपी अनृतरस में स्नान
 करनेवाली जिनकी निर्मल बुद्धि है उनका काल अच्छा
 व्यतीत होता है अथवा सुंदर कामिनो पुष्टस्नान और
 जघनसे भोगमें सुखदाई जो स्त्री उनके शरीर पर हाथ
 दिये चंचलतासे उद्योग में जो तत्पर हैं उनका काल
 भली भांति व्यतीत होता है ॥ १६ ॥

मुखेन चन्द्रकान्तेन महानीलैःशिरोरुहेः ।

पाणिभ्यां पद्मरागाभ्यां रेजेस्त्नमयीव सा ॥

(भा० टी०) चंद्रकांत मुख, महानील केश और
 दोनों पद्मराग हाथोंसे ऐसी स्तनमय वह स्त्री शोभा देती
 है अर्थात् चन्द्रकांत, महानील, पद्मराग, तीन प्रकारकी
 मणि रूप स्त्री शोभित होती है ॥ १७ ॥

संमोहयन्ति मदयन्ति निडानयन्ति ।

निर्गर्त्सयन्ति रमयन्ति विषादयन्ति ॥
एताः विष्य सदयं हृदयं नराणां किं ।

नामवामनयना न समाचरन्ति ॥ २१ ॥

(भा० टी०) मोह लेती, यत् कर देती, पिटपना
करती डांट शिडकन देती रमण कराती और विरह का
विषाद देती है ये 'लियां मनुष्यके सदय हृदय में प्रवेश
करके क्या नहीं करती हैं ॥ २१ ॥

विश्रम्य विश्रम्य वनप्रमाणां ।

ह्यायानुतन्वी विचचारकाचित् ॥
स्तनोचरीयेण करोद्धृतेन ।

निवास्यन्ती शशिनोमयूखान् ।

(भा० टी०) वनके वृक्षोंकी छायामें विश्राम लेती
फेड़ एक स्त्री हाथसे अपने स्तनोंके आंचल उठाये
चन्द्रमाकी किरणों को रोकती हुई जाती है । यहाँ
कृष्णभित्तारिका नायका जानो ॥ २२ ॥

अदर्शनेदर्शनमात्रकामा ।

दृष्ट्वा परिष्वङ्गरसेक लोला ॥

छालिङ्गितायां पुनरायताद्या ।

माशात्महे विग्रहयोरभेदम् ॥ २३ ॥

(भा० टी०) जबतक हम स्त्री को नहीं देखते वन

सकतो देखने है। की इच्छा रखती है देखते हैं तब भी
आलिंगन रसका तुल्य चाहते हैं और लिपटने पर
अभिलाषा रखते हैं कि यह मृगनयनी हमारे शरीर
विलग न हो ॥ २३ ॥

मालती शिरसि जृम्भणोन्मुखी ।

चन्दनवपुषि कुंकुमान्वितम् ॥

वक्षसि प्रियतमा मनो हरा ।

स्वर्ग एष परिशिष्ट आगतः ॥ २४ ॥

(भाषा टी०) शीघ्र खिलनेवाली मालतीकी कज्जि
की माला गले में पहिने हों, केसर युक्त चन्दन वपु
में लगाये हों, और सुन्दर प्यारी स्त्रियों को छाती में
लिपटाये हों तो यह जानो कि-शेष स्वर्गका भोग ब
प्राप्त हुआ है ॥ २४ ॥

प्राङ्मामेति मनागमानिलगुणं जानाभिलापं ततः ।

सत्राडं तदनु श्रुत्वाद्यत मनुव्रत्यस्तथेयं पुनः ॥

प्रेमाद्रिस्पृहणी यनिर्भररहः कीडा मगलमा ततोनिः ।

शङ्काक्लविकर्षणादिकसुखं रम्यं कुलस्यारतम् ॥

भा० टी०—पहिले तो नहीं नहीं करना यह मनोहर
गुण उसमें हैं फिर अभिलाषा उत्पन्न होवा और लज्जा
से शरीर को ढोछ देवा धैर्य छोड़ना प्रेमरससे भी घना

योग्य पृथान्त प्रीटावा पतुर्ग्य विस्तार करना
 उर हो अंग खिचने का प्रयत्न सुखलाभ करना
 निश्चय जानो कि कुल खाई की रति अच्छी

॥ २५ ॥

सि निगितानां सन्तधीमलनानां ।
 मुकुलितनयनानां किंचिदुमोलितानाम् ॥

सुरतजनितमेदस्याद्रगगडस्थलानां ।
 मधरमधू वधूनां भाग्यवन्तः पिवन्ति ॥
 (भा० टी०) छाती पर लेटी हुई हैं और सुगंधित
 दा उनके घिरे हुए हैं, आधे नेत्रें मूँदे हुए हैं कुछ कुछ
 झल रही हैं मधुन के थमसे उनके गालों पर पसीने
 सलक रहे हैं ऐसी स्त्रियों के अधरमधुको भाग्यवान् ही
 पुरुष पान करते हैं ॥ २६ ॥

आर्मालितनयनानां यः सुरतरसोऽनु संविदं कुरुते ॥
 मिथुनेर्मिथावधारितम वितथमिदमेव कामनिर्वहणं ॥
 (भा० टी०) आलस्य भरी नेत्रवाली स्त्रियों को
 काम से तृप्ति करना यही स्त्री पुरुष दोनों का परस्पर
 काम पूजन है ॥ २७ ॥

इदमनुचितमकमत्र पुंसां ।

यदिह जरास्वी मान्मथा विकाराः ॥

तदपि च न कृतं नित्यिनीनां ।

स्तनपतनावपि जीवितं स्तं वा ॥ २८ ॥

(भा० टी०) यह विधाताने पुरुषोंमें बड़ी अनुचित और उलटी बात उत्पन्न की है कि बुढापेमें भी कामरूप विचार प्रगट होता है ऐसाही लियोंको भी नहीं बिना कि जबलों स्तन न गिरें तभी हों जिए और काम चें रहें ॥ २८ ॥

एतत्कामफलं लोके युद्धयोरेकचित्तता ।

अन्यचित्तकृते कामे शययोरपि संगमः ॥

(भा० टी०) स्त्री पुरुष के समागम में एक चित्त होजाना कामदेवका यही मुख्य फल है, यदि काम दोनोंका चित्त और ठीर रहा तो मृतकों का सा संगम होता है ॥ २९ ॥

प्रणयमधुराः प्रेमोद्वाहा रमादलमाम्बया ।

भणितिमधुग मुग्धप्रायाः प्रकाशामेवदाः ॥

प्रकृतिमुभया विश्रम्भाद्वाः स्मरोदयदायिनां

रहति किमपि स्वेच्छाया हरन्ति मृगीदृशाम् ॥

(भा० टी०) मुग्धोद्वाहा से भीटेप्रेमरसको पूर्णनयने से स्वरूप मुग्धहृद मुननेमें सुन्दर आनन्द प्रकाशमान के समान ही मृगीदृशिरास के योग्य अर्थात् कामदेव

हृदय करनेवाले ऐसे पृकान्त में स्त्रियों के स्वच्छन्द
पण मनको हरण कालेते हैं ॥ ३० ॥

धावासः क्रियतां गात्रे पावारिणि वारिणि ।
स्तनमध्ये तरुण्या वा मनोहारिणि हारिणि ॥
(भा० टी०) पाप करनेवाला है जल जिसका ऐसी
श्रीगंगाजी के तटपर बसे अथवा युवा स्त्रीके उस स्तन
के मध्यमें बसे, जो मनको धामें करेता है और जिस
पर द्वार पड़ा हुआ है ॥ ३१ ॥

न्यपुरतो युदतीनां तावत्पदमातनोतु हृदि मानः ।
त्वति न यावच्चंदनतरुमुरभिर्मेधुमुनिर्मलःपवनः ॥
(भा० टीका) गर्ववाली स्त्रियोंके हृदयमें यह प्रसिद्ध
गान तभी लों ठहरता है जबलों चंदनकी सुगंधि मरी
भीर्याचल की स्वच्छ वायु नहीं चलती ॥ ३२ ॥

अथ ऋतुवर्णनम् । तत्रादौ वसन्तस्य ॥

परिमलभृतो वाताः शाखा नवांकुर कोटयो ।

मधुरविस्तोत्कण्ठा पात्रःपियाःपिकपक्षिणाम् ॥

॥ विरलमुरतस्वेदोद्गारा वधूवदनेन्दवः ॥

प्रसरति मधौरात्र्यां जातो न कस्य गुणोदयः ॥

(भा० टीका) सुगंधित पवन चल रही है, वृक्षोंके
शाखों में नये पत्रों के अंकुर निकले हैं, कोकिलों

पक्षियोंकी वाणी मधुर सुन्दर उत्कण्ठा भरी
 लगती है, और स्त्रियों के मुखचन्द्र पर रतिश्र
 बिलग प्रस्वेद बूंद के कणें शोभित हैं ऐसी वसंत
 की रात्रिमें किस किस वस्तु में गुणकी ज्योति
 प्रकाश होती है ॥ ३३ ॥

मधुरयं मधुरैरपिकोकिला ।

कलकलेर्मलयस्य च वायुभिः ॥

विरहिणः प्रणिहन्ति शरीरिणो ।

विपदि हन्त सुधापि विपायते ॥

(भा० टी०) मधु - मधुर कोकिलों के शब्द.
 मलियाचल के पवन से यह चैत्रमास विराहियोंका
 करता है इससे यह जान पड़ता है कि विपत्तिमें अ
 भी विष होजाता है ॥ ३४ ॥

थावासः किल किञ्चिदेव दयितापात्रं विलासालस
 कर्णं कोकिलकाकला कलग्नः स्मेरो लनामण्डपः
 गोष्ठोसत्कविभिः सम कतिपयैः सेव्याः सितांशोः कराः
 केषाचित्सुखयन्ति नेत्रहृदये चेत्रे विचित्राः चपाः ।

(भा० टी०) किञ्च किञ्चित् विलास से शिथिल
 हो प्यारी के मंग रटना, कानसे कोकिला के शब्दकी
 फटफटाहट सुनना और चादनीका मुल उठाना, ऐसी

से चित्रमासकी विचित्र रातें किसी पुण्यवानही
दय और नेत्रों को सुख देती हुई बीतती हैं किल
वत् हाव भाव उसे कहते हैं कि जहाँ क्रोध, आंसु,
प्रीति और रुझाई ये सब भाव एकही समय हों ॥

न्यस्त्राविरहानलाहुतिकलामातन्वती मञ्जरी ।
कन्देपु पिकाङ्गनाभिरधुना सोत्कण्ठमालोक्त्यते ॥
प्येते नवपाटलापरिमलाः प्राग्भारपाटञ्चरा ।
मिति छांतिवितानतानवकृतः श्रीसण्डशैलानिलाः ॥

(भाषा टी०) बटोहियोंको जो बिगहिनी स्त्रियां
उनकी विरहानिमें आहुति कला फैलाती हुई जो आम
बौर के ठन्ड़े कोकिला बड़े अभिलाष से देखती हैं,
जब बसन्त ऋतुमें ऐ नवीन पाटल पुष्प के सुगन्ध के
पुंजको चुराने वाले और विरह विस्तारको नया करने
वाले मलयचलके पवनभी गमन करते हैं ॥ ३६ ॥

सहकारकुसुमकेसर निकरभरामोदमूर्च्छितदिगन्ते ॥
मधुरमधुविधुरमधुपे मधौ भवेत्कस्य नोत्कण्ठा ॥

(भा० टी०) आमकी बौरकी जो केसर उसके समूह
। सुगन्ध दिशाओंमें छाये रही और मीठे मीठे मक-
न्द पानकर जिसमें भ्रमर उन्मत्त होहि हैं ऐसे ऋतुराज
सन्तमें किये उत्कण्ठा नहीं होती ॥ ३७ ॥

अथ ग्रीष्मवर्णनम् ।

अच्छाच्छचन्दनरसार्द्रकरा मृगान्त्यो ।

धारागृहाणि कुसुमानि च कौमुदी च ॥

मन्दो मरुत्सुमनसः शुचि हर्षपृष्ठं ।

ग्रीष्मे मदं च मदनं च विवर्द्धयन्ति ॥

(मा० टी०) अति स्वच्छ चन्दन के रस ने सिंघोंका हाथ भीगा है फुशारेवाले मंदिर, मन्द मुग्ध पुष्प, विकसित चांदनी, मुगंधित लता, मन्द मन्द और मइलकी श्वेत छत ये सब सामग्री ग्रीष्मकामदेवके और मदकी बढ़ाते हैं ॥ ३८ ॥

सजो हृद्यामोदा व्यजनपवनश्चन्द्र किरणाः ।

परागः कासारो मलयजरजः सीधु विशदम् ॥

शुचिः सौधोत्सङ्गः प्रतनु वसनं पङ्कजदृशो ।

निदाघे तूर्णतत्सुक्ष्ममुपलभन्ते सुकृतिनः ॥

भा० टी०—अच्छी सुगंधित माळा, पंखेका च चांदनी पुष्पोंका पराग, तडाग, चंदन उज्जल, मद्य, धामकी अच्छी ऊंची छत, अच्छे मळमलसे महीन और कमळनयनी सुन्दर स्त्री इत्यादि पदार्थोंसे श्रुतुमें पुण्यवान् ईश्वर सुख उठाते हैं ॥ ३९ ॥

सुधाशुभ्रं धाम स्फुटं मलयरश्मिः शशधरः ।

कामभोजं मलयजरजरचातिपुरभि ॥
हृद्यामोदास्तदिदमखिलं रागिणि जने ।

त्यन्तःक्षोभं न तु विषय संसर्गविमुखे ॥

भा० टी०) चूना सफेद से अच्छा उज्ज्वल धाम
मेल चांदनीका चन्द्रमा, प्यारी का मुख कमल, सुगं-
त चन्दन, अच्छे सुगंधित पुष्पोंकी माला ये सब वस्तु
नुरागी पुरुषों के हृदय में अत्यन्त शोभ करते हैं, परन्तु
विषयके संसर्ग से जो विमुक्त हैं उनके हृदयमें नहीं ॥४०॥

अथ वर्षा समय ।

रुणी चेपा दीपितकामा विकसित जातीपुष्पसुगंधिः
अतपीनपयोधर भारा प्रावृट् कुरुतेकस्य न हर्षम् ॥

(भा० टी०) तरुणीके बेनवाली, कामदेवको उदित
करनेवाली, जातीपुष्पके सुगन्धको बिकाश करनेवाली,
जैसेके पुष्ट पयोधर के भार उन्नत है ऐसी यह वर्षा-
कृतु कितनी नहीं हर्षित करती है जाती जूही लतावा
जायित्री पयोधर मेघ और स्वनके भी कहते हैं ॥४१॥

वियदुपचितमेघं भूमय कन्दलिन्यो ।

नवकुटजकदम्बामोदिनो गन्धवाहाः ॥
शिखिकुलकल्लकेकारावराम्पा वनान्ताः ।

मुखिनमसुखिनं वा सर्वमुत्कटयन्ति ॥

(भा० टी०) मेघ से व्याप्त आकाश और प्रकृति पृथ्वी अर्थात् नयेरअंकुशपर ओसके जलसे पूर्ण, नर्म कुटज और कदम्ब के पुष्पोंके समूहों से सुगन्धित वन और मयूरों की झुंडकी सुन्दर बाणों से रमणीय बन प्रांत, सब सुखी और दुःखी पुरुषों को उत्कण्ठा कामरे की इच्छा देते हैं ॥ ४२ ॥

उपरि घनं घनपटलं तिर्यग्गिरयोपिनर्तितमयूराः ।
वसुधाकंदलभवलातुष्टिं पथिकः क यातु संव्रतः ॥

(भा० टी०) ऊपर घनघोर छाया रहति, दहिने का पहाड़ों में मयूर नाच रहे हैं नीचे भूमि छी दूब ओसों में नांग शोरही हैं ऐसे समयमें दीन बटोहिषों को संतो कही में भाव अर्थात् चारों ओर विरह के उद्दीपन करने ॥ ४३ मय समान हैं ॥ ४३ ॥

इतो विमृद्भर्त्सितविलम्बितमितः केन क्लितोः ।

मृगश्चः शोथन्नलदन्तिनदमकुर्मितमितः ॥

इतः केहिर्कीटा कलहनायः पदमन्त्र दयाकथं

यास्यन्त्यन विरहदिरमाः संभृतमाः ॥

(भा० टी०) एक नाक विषय (चित्तकी)

उत्तरः विरहः, २० श्रेष्ठ केन ही के वृत्तकी उत्तरः
मृगश्च, २० श्रेष्ठ केन ही के वृत्तकी उत्तरः

(मोर) को ग्रीडा का कलर शब्द ये भव जहाँ
एकत्र हैं वे विरहके रमभरे दिन स्त्रियों के किस भाँति
दीतगे ॥ ४४ ॥

असूचीसंसारे तमसि नभमि पौडजस्पद ।

ध्वनिप्राप्ते तस्मिन् पतति दृपदा नीर निचये ॥
इदं सोदामिभ्याः कनक कमनीये विलसितं ।

मुद च म्लानि च प्रथयति पथिष्वेव मुदशम् ॥

(भाषा टी०) ऐसे पने अन्वकारमें जिसमें सुई न
प्रवेशकरसके जो आपाठ वा श्रावनके मासमें बड़े मेघके
शब्द और पत्थर सहित जलवृष्टिमें बिजुली का बारबार
चमकना सो स्त्रियोंको अपनेर बटोही पतियों के प्रति
सुख दुःख उत्पन्न करता है ॥ ४५ ॥

आसारेण न हर्म्यतः प्रियतमेर्यातुंवहिः शक्यते ।

शीतोत्कम्पनिमित्तमायतदृशागाढंसमालिङ्ग्यते ॥

जाताःशीतलशीकराश्रमरुतो वान्त्यन्तस्त्रेदच्छिदो ।

धन्यानां वत दुर्दिनं सुदिनतां याति प्रियासंगमे ॥

(भा० टी०) वर्षाकी झड़ी में खोलोग घरके बाहर
नहीं निकल सकती हैं और खाँ प्रीतमसे आलिंगन किये
जाती हैं कि बड़ा जाड़ा लगता और वेद कापती है यों
कह कह इसी निमित्त स्त्रियों से प्रीतमनी आलिंगन

करते जाते हैं और बाहर नहीं निकल सके हैं
 ठंडे २ जलसे सूक्ष्म कणों सहित वायु मैथुन के अंग
 में श्रम हरने वाला बहरहा है ऐसे धन्य पुरुषों
 प्यारी के संगमें दुर्दिन भी सुदिन होजाते है अथ
 सुखकी घडी हो जाती हैं ॥ ४६ ॥

अथ शरत्

अर्द्धनित्वानिशायाःसरभससुस्तायासखिन्नलक्ष्मांगः
 प्रेङ्क्षातासद्यतृष्णो मधुमदनिरस्तो हर्म्यपृष्ठे विविक्ते
 संभोगकृन्तकान्ताशिथिलभुजलतातार्जितकर्ककरीत
 ज्योत्स्नाभिन्नाच्छधारंपिवतिनसलिलंशारदमंदभाग्य

(भा० टीका) आधी रात व्यतीत भये पर ये
 सहित मैथुन के श्रमसे जिसके अंग थकित, होरहे हैं
 मध्यमें मत्त अत्यंत प्यासा छतपर स्वच्छ और एकांत
 ठौर में बैठा, वैसे ही मैथुनमें थकी खीने शिथिल भुजा
 ओं से झारी लाकर दी और चांदनी में जिसकी स्वच्छ
 धारा दाख पडती है ऐसे शरदऋतुके जलको न पीये
 तो मन्दभागी जानना चाहिये ॥ ४७ ॥

हेमन्ते दाधिदुग्धसर्पिरशना माम्जिष्ठवासोभूतः ।
 काश्माद्रवसान्द्रदिग्धवपुः विन्ना विचित्रे स्तः ॥

स्यलकानिनोजनकृतारलेया गृहाभ्यन्तरं ।
 दलपूगपूरितमुखा धन्याः सुखं शेस्ते ॥
 भा० टीका) दही, दूध, घृत, और सुगन्धित
 भोजन किये, केशर कस्तूरी सघन सर्वांग लगाए
 एक प्रकार के आसन भेदकी रतिसे खिन्न, पुष्ट जंघा
 र स्तनवाली स्त्रियां जिन्हें लपटाये पान औ सुपारी
 पाये, मञ्जीठ के रंगे वस्त्रधारण किये प्यारी के साथ
 अन्य पुरुषही हेमन्तऋतु में सोते हैं ॥ ४८ ॥

चुवन्तो गंडभिर्त्तारलक्यति मुखेसीकृतान्यादधाना
 वक्षःसृत्कंचुकेषु स्तनभरपुलकोद्भेदमापादयन्तः ॥
 जलनाकंपयन्तः पृथुजघनतटात्संसयंतौशुकानि ।
 व्यत्तंकांताजनानाविट्चरितकृतःशैशिरावांसिवाताः ॥

(भा० टी०) यह प्रकार है कि शिशिर ऋतु में
 अभियोंके समान आचरण करतेहुए पवन चलते हैं कि
 स्त्रियों के कपोलों को चुंबन करते हैं केशों वाले मुख में
 सीर शब्द को कराते हैं कंचुकी नहीं जिस पर ऐसी
 छाती स्तनोपर रोमावली को वेदा करते हैं जंघाओं को
 कंपाते हैं और मोटी जंघाओं के (रान) पक्षों को
 उडाते हैं ॥ ४९ ॥

केशानाकलयन्हशो मुकुलयन्वातोवलादाचिपः ।

ज्ञातत्वनपुलकौद्रमं प्रकट यन्नालिंग्य कम्पञ्चनैः ॥
 वारंवारमुदारसीत्कृतकृतोदन्तच्छदान्पाडय- ।
 न्प्रायःशेशिर एष संप्रति मरुत्कांतासु कांतायते ॥

(भा० टी०) बाळों को घिखेरता, आंखों के किञ्चित् मूंदता, साड़ी बलात्कार से उडाता, देह में रोमांचित करता, चलने में उद्देग और कम्प प्रकट करता बेर बेर सीसी करने में ओठों को पीडित करता, इस प्रकारका शिशिरकृतुका वायु पतिका सा आचरण करता है ॥ ५० ॥

असाराः सन्त्वेते विरतिविरसायास विषया ।

जुगुप्सन्तां यद्भाननुसकलदोषास्पदमिति ॥

तथाप्यन्तस्तत्वे प्राणिहितधियामप्यनिबलस्तदा ।

योऽनाख्येयः स्फुरतिहृदयेकोऽपि महिमा ॥

(भा० टी०) यह सब भोग विषय अनार और वैराग्य में विरत करनेवाले हो और उन्हें सब दोषों का प्रह समझकर यदि लोग निंदामी करें तोभी इन विषयोंकी महिमा अति बलवान् है कि कहने के योग्य नहीं, अंतस्तत्त्व अर्थात् प्रत्यक्ष विचार में जिनकी बुद्धि स्थिर हो रही है उनके हृदयमें भी प्रकट होती है ५१

भरन्तो वेदान्तऽपिहितधियामाप्तगुरवो ।

वेदघालापानां वयमपि कवीनाम नुचराः ॥
 अप्येतद्भूमी नहि परहितात्पुण्यमाधिकंन ।
 चास्मिन् संसारे कुवलयदृशो रागमयस्म ॥

(भा० टी०) तुम वेदांत वेत्ताओं के मंत्र गुरु
 शिष्य कहो और हम भी विचित्र काव्य शाल
 की कवियों के दास हैं तथापि यह हम ठीक
 बंदन करते हैं कि इस संसार में पराया हित करनेसे
 अधिक अन्य पुण्य नहीं और कमलनैनी सियों से
 बिक सुन्दर वस्तु नहीं ॥ ५२ ॥

किमिह बहुगिरंतेर्भुक्तिशून्यः प्रलापे ।
 द्वयमिह पुरुषाणां सर्वदा तेवनीयम् ॥
 अभिनयमदलीशालालस सुन्दरीणां ।

स्तनभरपरिखिन्नं यौवनं वा वने वा ॥
 (भा० टी०) भुक्तिशून्य प्रलाप छर्दान् बकवाद से
 क्या प्रयोजन है ! पुरुषों को दोही वस्तु सर्वदा सेवने
 योग्य है ! का नवीन मदांध स्त्रीका ले अभिन्न'वी और
 स्तनभर से लिय ऐसे सुन्दरियों का यौवन प्रयत्न
 ॥ ५३ ॥

सत्यंजना यन्मि न पक्षपाताहो- ।
 केऽसर्वेऽपि च तथ्यमेतत् ॥

नान्यन्मनोहारिनितम्बिनान्यो ।

दुःस्वप्नेतुर्नव कश्चि दन्यः ॥

(भा० टी०) हे लोगो यह हम मरय कहते हैं
कुछभी पक्षपात नहीं करते संसार में यह विदित है
स्त्रियोंसे अन्य मनहरण करनेवाली और दुःस्वप्ने के
वस्तु भी नहीं है ॥ ५४ ॥

अथ दुर्विरक्त प्रशंसा ।

तावदेव कृतिनामपि स्फुरत्येष निर्मलविवेक दीपक
यावदेव न कुलंगचभ्रुवांताडयते चपललोचनायतेः ॥

(भा० टीका) विवेकियों को भी निर्मल विवेक
दीपक तभी तक प्रकाशित रहता है जबतक मृगनयन
स्त्रियों के चंचल लोचन रूपी आंचल से नहीं बुरका
जाता ॥ ५५ ॥

वचसि भवति संगत्यागमुद्दिश्य वाचा ।

श्रुतिमुखरपुस्तानां केवलं पण्डितानाम् ॥

जघनमरुणरत्नग्रन्थिकाश्च कलापं ।

कुवलयनयनानां को विहातुं समर्थः ॥

(भा० टीका) संग त्याग करनेकी कथा शास्त्रवत्
पंडितोंके मुखसे केवल कथनमात्र ही है नहीं तो कालः

नजडित करधनी वालो कमलनयनी स्त्रियों के जूषन
फल छोड़नेमें कौन समर्थ है ॥ ५६ ॥

यपरभतारकोऽसौ निन्दति योलीक पण्डितो युवतीः
स्मात्तपसोऽपि फलं स्वर्गस्तस्यापि फलं तथाप्सरसः ॥

(भाषा टी०) जो स्त्रियों की निंदा करता है वह
मूठा पंडित है आप तो ठगाही गया । पर औरों को भी
ठगाता है क्योंकि तपस्याका फल स्वर्ग और स्वर्गका
फल अप्सरा भोग है सो यह प्राप्त है ॥ ५७ ॥

मत्तेभकुम्भदलने भुवि सन्ति शूराः ।

केचित्प्रवण्डगृगराजवधेऽपि दत्ताः ॥

किं तु ववीणि वलिनां पुरतः प्रसह्य ।

कन्दपेदर्पदलने विरला मनुष्याः ॥

(भा० टी०) उन्मत्त हाथीके मस्तक विदारने वाले
शूर इस पृथ्वी पर अनेक हैं और प्रचंड सिंहके मारनेमें
दक्ष गोधामी कितनेही हैं परन्तु बलवानों के आगे हम
बैठकर यह कहते हैं कि कामदेवके मदका दूठनेवाला
कोई विरलाही पुरुष होगा ॥ ५८ ॥

सन्मार्गेतावदास्तेप्रभवति स नरस्ताव देवेन्द्रियाणां ।

खज्जांतावद्विधत्ते विनयमपिसमालम्बते तावदेव ॥

भ्रूवापाकृष्ट मुक्ताः श्रवणपथगता नीलपद्मभाण एते ।

यावल्लीलावतीनां न हृदि धृतिमुपोदृष्टिवाणाः प्रतीतिः ।

भा० टी०—पुरुष सत्समार्ग में तभी तक रहता है जब तक इन्द्रियों को उसी समय तक बरामें रखा सक्ता है । लज्जा विनयभी उसी कालतक रहते हैं जब तक शरीर घरीनी पलखरूपी पंख धारण किये, भौरूपी धनुष न धरे । कानोंतक फैले धैर्य्य छुड़ानेवाले लीलावती सुंदर स्ति के नयनरूपी बाण छुट कर हृदयमें नहीं लगते ॥ ५३ ॥

उन्मत्तमेसंरम्भादारभन्ते यदंगनाः ।

तत्र पर्युदमाधातु मत्तापि खलु कातरः ॥

(भा० टी०) अति प्रेमके उभंगमे उन्मत्त होकर भी लोग निज कामका आरम्भ करती हैं उस काम के रो करने की प्रज्ञाकी भी शक्ति नहीं । ६० ॥

साम्प्रदृष्ट्यापि ह्य कुलीनानां विवेकता ।

यावन्मनात नाद्वेषु हतानि पापानि हः ॥

(भा० टी०) बड़ाई फेंकनाई विवेक में । कुलीन ये जब मनुष्य की देहमें तबतक रहती हैं जबतक हृदय में अज्ञान नहीं प्रवेश हो जाता ॥ ६१ ॥

सुखं योऽपि विवर्तयति ततोऽप्यसौ विवर्तितः ।

अन्तेऽपि विवर्तयति ततोऽपि विवर्तितः ॥

देहेऽपि विवर्तयति ततोऽपि विवर्तितः ॥

पामाशीणां भवति कुटिलभूलताकुम्भिकेव ॥
 (भा० टीका) शालग्र और विनयपूर्वक प्रसिद्ध और
 जाना हो परन्तु इस संसारमें दृढता से सद्गति का पात्र
 कोई बिरलाही पुरुष होता है इस हेतु यहाँ नर्क नगरके
 लोहके तालेको मुन्दर नेत्रवाली स्त्रियोंकी टेढ़ी भाँह लूता
 घूँसती कुँजीके समान खोलती है ॥ ६२ ॥

कृशःकाणः खञः श्रवणरहितः पच्छ विकलौ ।
 वणीपूर्याल्लिनः कृमिकुलशते रावृततनुः ॥
 धुषाक्षामोर्जाणोऽपि करककपालार्पितगलः ।
 शुर्नामन्वेति आहतमपि निहन्त्येव मर्दनः ॥

(भा० टी०) दुर्बल, काना, लंगडों, बहिरा, पूँछ से
 हीन जिसके घावोंमें राख भरिहो और शरीर पर कीड़े
 फिरते हो भूखमें थका वृद्ध मिट्टीके घरेका कण्ठ जिस
 के गलेमें हो ऐसाभी श्वान कुत्ताके पीछे भोग के लिये
 जाता है इससे यह सिद्ध हुआ कि कामदेव मरे को
 भी मारता है ॥ ६३ ॥

श्रीमुद्रां भूपकेतनस्य जननीं सर्वार्थं सम्पत्करी ।
 धेमृढाःप्रविद्यायांतिकुधियोमिथ्याफलान्वेषिणः ॥
 तेतेनैव निहत्य निर्दयतरं नमोदृता मुण्डिताः ।
 केचित्पत्र शिखादृताश्च नटिलाः कापालिकाश्चापरे ।

(मा० टी०) स्त्रियां कामदेवकी मुद्रा सब और संपत्तकी करनेवाली है जो मूढ कुबुद्धि के झोड स्वर्गादि की इच्छा से निकल भागता है उन विष्णुके धेपमें न समझो किन्तु कामदेवने दया त्यागि इष्ट देकर उन्हें नंगा किया, सिर मुंडवाया, किसी के पांच घोड़ी जुटा रखवाई, हाथ में ठीकरा घे मंगवाया ॥ ६४ ॥

विश्वामित्रपराशरप्रभृतयो वाताम्बुपर्णाशनाः ।
स्तेऽपि नदीमुखपङ्कजं मुललितं दृष्ट्वेव मोहं गताः ॥
शाल्यतप्तं सघृतं पयोदीधियुतं भुञ्जन्ति ये मानवा ।
स्तेषामिन्द्रियानि प्रहो यदि भवेद्विष्यस्तस्मात्तारं ॥

(भा० टीका) विश्वामित्र पराशर • इत्यादि षडे बड़े ऋषी जो वायु जल और पत्ते आगपीके रहजातेये वेभी सों मुख कमलकी देह मोहको प्राप्त हुए अब जो मनुष्य यज्ञ पी दूध दही इत्यादि अच्छे व्यञ्जन भोजन करते हैं उनकी इन्द्रियां जो चशम होजाय तो समुद्रत विष्यान्धके तीनमें क्या आश्चर्य है अपितु इन्द्रियांभी चशम नही करत होते हैं ॥ ६५ ॥

॥ इति दुर्विक्तप्रशंसा समाप्ता ॥

संसारेस्मिन्नसारे कुनृपति मुवनद्वारं सेवावलम्ब ।
 यासगव्यस्तथैर्यं कथममलविषो मानसं संविदधुः ॥
 धेताः प्राद्यर्दिदुपतिनिवयभृतो न स्युरम्भोजनेत्राः ।
 खेत्कांचांकलायाः स्तनभरविनमन्मप्यभागास्तह्यः
 (भा० टीका) उदित श्रृंगारमाकीर्त्ती कांतभरो कमल
 भवाली सूलती हुई करघनोंकी लरियोंवाली ओर स्तन
 भारसे झुकी कटिवाला पुवता सो यदि नहो अर्थात्
 इनसे खेड न होय तो इस असार संसारमें निर्मल मुक्ति
 वाले संतुष्य खोटे राजों के द्वारकी सेवा नाना भाँतिसे
 कलंकसे अधीरचित्त होकर क्यों करें ॥ ६६ ॥

सिद्धास्यासितकन्दरे हरवृषरफावावगाढदुर्मे ।
 गङ्गाधौतशिलातले हिमरातः स्थाने स्थिते श्रेयसि ॥
 कः कुर्वीत शिरः प्रणाममलितं मानं ननरवी जनो ।
 यद्यत्रस्तकुरङ्गशार्वनयना न स्युः स्पर्शस्त्रे रिञ्जयः ॥

(भा० टी०) सिद्धलोग जिस कंदरामें बैठे हैं और
 महादेवजी का पैल जहाँ पृथ्वीमें कंधा रंगइता फिरता है
 और गंगाजल से जहाँ के पापःण धोये जाते हैं ऐसा
 हिमालय का स्थान कल्याणदायक छोड़कर कौन मनुष्य
 सो पुण्य लोगोंके समीप जाकर माया मुकाय प्रणाम
 कर अपने मानसे मलीन कला यदि भाँव रहित

इणि शवक नयना कामाक्ष स्वरूप कामिनी एते
होता ॥ ६७ ॥

समाः तव निस्तारपदवी न दवीयसी ।

अन्तरा दुस्तरा न स्युर्यदि रेमदिरेक्षणाः ॥

(भा० टी०) हे संनार तुझमे पार होना कुछ दुस्त
न था यदि अच्छे नेत्रवाली अठिन स्त्रियां बीचमें
नं होती ॥ ६८ ॥

अथ यौवन प्रशंसा ।

राजंमृणां वुशरोर्नहि जगति गतः कश्चिदेवा
सानं । को वायोर्ध्वः भूतेः स्ववपुषि गलिते
यौवने मानुरागं ॥ गच्छामः सद्य तावद्विकमित
नयनेदारगल्यंकनानां यावन्चाकम्परूपं भर्तृ
न नरपालुष्यत प्रेयसीनां ॥ ६९ ॥

(भा टी०) हे मन्नासज ! इस नृणां रूपी सद्य
के कोई पार न गया और जब हमारे अनुगम न
गुप्त अङ्गों देहों में जीने होगई तब अधिक द्रव्य
मन अच्छे दम हो क्या कमार्द तो सोचइ अपने प
अच्छे अङ्ग ऐना न हो कि विहसितकुमुद और कम
नेने नेत्रों हो इनमें प्यारियों हो रूप नृणां रत्नायुक्त

विगाड न डाले यहाँ कुमुद रात्रि विकाशी और कमल
दिन विकाशी में अभिप्राय है इससे यह सूचना होती
है कि वे रात दिन हमारा मार्ग देखती होंगी ॥६६॥

इति स्त्रीणां परित्यागविधिः ॥

रागस्यागारमेकं नरकशतमहादुःखं संभाषिहेतु- ।
मोहम्यान्पत्तिबीजं जलधर पटलं ज्ञानताराधिपस्य ॥
कुन्द-नरकमित्र प्रकाटेतविविधस्पष्टोपप्रवन्धं ।
लोकेऽभिन्नहानयं निजकुलदहनं र्यावनादन्यदस्ति ॥

(भा० टी०) अनुरागका घर, सैकड़ों नरकोंके दुःख
प्राप्त होनेका हेतु, मोहकी उत्पत्तिका बीज, ज्ञानरूपी
पटलमाके दांकने का मेघ, कामदेवका एकही मित्र, अनेक
दोषों का प्रगट करने वाला, और वैराग्य और नीति का
हरण करनेवाला, इस लोकमें युवा अवस्था के अतिरिक्त
(भिन्न) दूसरा कोई अनर्थ नहीं ॥ ७० ॥

शृंगारदुर्मतीरदे प्रचुरतः क्रोडारसस्रोतसि ।
प्रपुष्पनभियवान्धवे चतुस्तामुक्ताफलोदन्वति ॥
तन्वीनत्रचकोरपारण विधौ सौभाग्यलक्ष्म्यानिधौ ।
धन्यः कोऽपि न विक्रियां कलयति प्राप्ते नवे यौवने ॥

(भाषा टी०) शृङ्गाररूपी एक्षोंका सौचनेद्वारा मेघ,

निस्तीवर्त्तनीयस्यैव मोना, कामदेवका ललाटे
 चतुर्भुजास्तु मोनियोंका समुद्र, यियों के नेत्ररूपी नं
 का पुष्प-मन्द और सौभाग्य नदियों का पृथक् पृथक्
 गुण भवत्या पाकर जो पुष्प विकार भी नहीं प्रकट
 हो पाये ॥ ७१ ॥

अथ कामिनीगह्वणप्रशंसा ।

कान्तेत्युत्पललोचनेति विपुल श्रोणी भरेत्युत्पुङ्गुः ।
 पीनोत्पुङ्गुयोजरेतिपुमुत्ताम्भजेतिपुत्ररिति ॥
 दृष्ट्वा माद्यति मोदतेगतिस्मते प्रस्तोति जानन्नपि ।
 प्रत्यक्षाशुविपुत्तिकां त्रियमहो मोदस्य दुद्योष्टितं ॥

(भा० टी०) कान्ता, कमलनयनी, घड़े नितम्ब
 वाली, पुष्ट और उत्तंग ऊंचे स्तनवाली सुन्दर कमल-
 मुखी और सुन्दर भौंहवाली, यों कह कह पंडित लोग
 भी स्तुति करते हैं और देखके मोहित होते हैं आनन्द
 पाते रमण करते और उत्कण्ठित होते हैं प्रत्यक्ष ही
 अपवित्रताकी पुतली रूप स्त्री है उसपर देखो यह मोह
 की क्या खोटी चेष्टा है ॥ ७२ ॥

स्मृता भवति ताया दृष्ट्वा चोन्मादवर्द्धिनी ।

स्मृप्या भवति मोक्षाय सा नाम दायता कथयामि ।

(भा० टी०) जी स्मरण से सन्ताप देती है देखनेमें
राद पड़ाती अर्थात् मदवत्ता करदेती है और स्पर्श
मोहित करलेती है ऐसी स्त्रियों को प्रिया क्यों कहते
॥ ७३ ॥

ताददेवामृतमयीयावल्लोचनगोचरा ।

चक्षुःपयादपगता विषादप्यतिरिच्यते ॥

(भा० टी०) स्त्री सभी लों अमृतमय है जबलों नेत्र
के सामने है नेत्रसे जब दूर हुई तब विषसेभी अधिक
हो जाता है अर्थात् विरहसे सन्ताप देती है ॥ ७४ ॥

नामृतं न विषं किंचिदेकां मुक्त्वा नितम्बिनीम् ।

सेवामृतलता रक्ता विरक्ता विषवल्लरी ॥ ७५ ॥

(भाषा टी०) स्त्रियोति परे न कोई अमृत है न विष
यदि वह प्रीति करे तो अभी लता है और प्रीति तोड़
बैठे सो विषकी मंजरी है ॥ ७५ ॥

आचर्तः संशयानामविनयभवनं पत्तनं साहसानं ।

दोषाणांसनिधानं कपट शतमयं क्षेत्रमप्रत्ययानाम् ॥

स्वर्गद्वारस्य विघ्नो नरकपुरमुखं सर्वमाया करण्डं ।

स्त्रीयन्त्रकेन सृष्टविषममृतमयंप्राणिनां मोहपाशः ॥

(भा० टीका) संशयोंका भँवर अविनयका घर साहस
का नगर दोषोंका पात्र अविश्वास और झूठों कपट

का खेत स्वर्गद्वारका विघ्नकारक नरकनगर का
मायाका पेटारा अमृतलपेटा विष और प्राणियों
फँसाने का फँदा ऐसा स्त्री रूपी यंत्र किसने वा
सृजा है ॥ ७६ ॥

सत्यत्वेन शशांक ऐष वदनीभूतो नवेन्दीवर ।
द्वन्द्वं लोचनतां गर्तं न कनकैरप्यङ्गयष्टिः कृता ॥
किन्त्वेकं विभिः प्रतारितमनस्तत्त्वं विजानन्नपि ।
त्वङ्मां सास्थिमयं वपुर्मृगदृशां मन्दो जनः सेवते ॥

(भा० टी०) देखो तो सच चन्द्रमाही मुख न
बन गया कमलही दोनों नेत्र नहीं हुए स्वर्णही से
नहीं बना है यह स्त्रियों का शरीर चाम मांस और
हाडमय है परन्तु यह बात जानकर भी कवियों
घड़काने से अर्थात् विवेक रहित मनुष्य उसे सेव
करते हैं ॥ ७७ ॥

लीलावतीनां सहजा विलासा ।

स्तएव मूढस्य हृदि स्फुरन्ति ॥

रागो नालिन्यादि निसर्गसिद्ध ।

स्तत्र भ्रमत्येव मुदा पङ्क्तिः ॥ ७८ ॥

(भा० टीका) लीलावती स्त्रियों का लीला करना
सहज स्वभाव है सोई मूढ़ोंके हृदय में बशीकरन हो

हे जेमे कमलिनी में ललाई स्वभाविक होती है
उमपर व्यपदेश आशक्त होकर घूगता है अर्थात्
मुसंता है कि मोहो लगे ललाई समकाम
है ॥ ७८ ॥

हेतूणेंन्दुपुति हरदुदाराकृति वरं ।
मुखान्नं तन्वयाः किल वसति तत्राधरमधु ।
इदं तावताऋदुमफलमिवातीव विरसं ।
व्यतीतस्मिन्काले विपमिवभविष्यत्सुखदं ॥

भा० टी०—सूरजनासी के चन्द्रमाकी छवि हरनहार
सुन्दर आकारवाली स्त्रियोंका मुखरुमल जिसमें अधरा
हूत रहता है वह अज्ञात या दुःख अवस्थामें अज्ञा
लगता है फिर वह काल व्यतीत होने पर ज्ञात वा
वृद्धापन प्राप्त होनेसे मदारके फल और विवसा धुल
होगा ॥ ७९ ॥

उन्मीलित्त्रिलीतंगनिलया प्रोतुंगपीनस्तन
दन्देनोद्यतचक्रवाक मिथुनावक्राम्युजोद्भासिनी ॥
हान्ताकारधरानदीयमभितः क्राशया नेष्यते ।
संसारार्णवमञ्जन यदिततो दूरेण संत ॥

(भा० टी०) शोभित वेद
हे उत्तम और पुष्ट
उत्तम चक्र

कै जोड़े हैं जिसका गंभीर आशयो मुखरूपी कमल
 शोभित है ऐसी स्त्री का आकार धारण किये नदी
 सो हे पुरुषो ! जो तुम संसार समुद्र में न
 चाहो तो इसे दूरही से परित्याग करो इसका यह
 तात्पर्य है कि नदीमें गिरी वस्तु घूम फिरके समुद्र में
 जा पड़ती है ॥ ८० ॥

जल्पन्ति सार्द्धमन्येन पश्यन्त्यन्यं सविभ्रमाः ॥

हृदये चिन्तयन्त्यन्यं प्रियः को नाम योपिताम् ॥

(भा० टी०) बातें तो किसी अन्य पुरुष से करती
 हैं और विलास सहित औरही की ओर देखती हैं और
 हृदयमें औरही से मिलनेकी चाह रखती हैं फिर कहो
 तो इनमें से कौन स्त्रियों का प्यारा है सो नहीं ज्ञात
 पड़ता ॥ ८१ ॥

मधुतिष्ठति वाचियोपितां हृदिहालाहलमेव केवलं ।

अतएव निषीयतेऽधरो हृदयं मुष्टिभिरेव ताडयते ॥

(भा० टीका) स्त्रियोंके अधरमें अमृत और उतारियों
 में विन रहता है इसी हेतु लोग अधरपान करते हैं और
 उतारोंमें मुष्टिका प्रहार करते हैं ॥ ८२ ॥

अपसर सन्धे दूरादस्मात्कटाक्षशिख्यानला ।

त्वह्मति विपमाद्योपित्सर्गाद्विलासकणाभृतः ॥

फणिना दशः शन्याश्चिकित्सितुमोपये ।
 श्वतुरवनिता भांगिप्रस्तं त्यजन्ति हि मां त्रेणः ॥
 भा० टी०) हे भिष ! मइजरी क्रूर और विलास
 विषमिने दूर भाग क्योंकि अन्य मर्षों का डसा
 आपधाने अच्छा दोमत्ताड़े पर चतुर लारूपों सर्व
 दमे हुयेको मन्त्रनन्त्र वाले भी छोड़ भागते हैं ॥८३॥
 विस्तारितं मकरकेतनर्थावरेण ।
 स्त्री संज्ञितं वडिशमत्रभवाम्बुराशौ ॥
 येनाविराजदवरापि पल्लवमर्त्य ।
 मत्स्यान् विकृष्य पचतात्पनुरागवद्धौ ॥

(भा० टी०) इस मंसारूपी समुद्रमें कामदेवरूपी
 केवट ने स्त्री रूपी जालको इसलिये फैलाया है कि वह
 कामदेव ननुष्यरूपी मच्छ उतके अधरमांस के जो लोभी
 हैं उन्हें चढ़ा में कर अनुरागरूपी अग्निमें पकाता है ॥८४॥
 कामिनीकापकान्तरेकुचपर्वतदुर्गमे ।
 मा संचर मनःपान्थ तत्रास्ते स्मरतस्करः ॥

(भा० टी०) स्त्रियोंका शरीररूपी वन जो कुचरूपी
 पर्वतोंसे अति दुर्गम हो रहा है उसमें हे चटोही मन तू
 मत जा तहां कामदेवरूपी चोर रहता है ॥ ८५ ॥
 ज्यादीर्घेण चलेन वक्रगतिना तेजस्विना भोगिना ।

नीलाञ्जयुतिनाहिना वरमहं दद्री न तच्चक्षुषा ॥
 दष्टे संति चिकित्सका दिशि दिशि प्रायेण धर्मार्थिनो
 मुग्धाक्षीक्षणाक्षितस्य मे वेद्यो न चाप्योपयम् ॥

(भा० टी०) बड़ा लम्बा चञ्चल टेढ़ा चालवाला
 और तेजवाला कणधारी नीलकमलसा काला सर्प जो
 मनुष्यको काट ले तो अच्छा परन्तु स्त्रीके कटाक्ष का
 काटा अच्छा नहीं क्योंकि सांपके डसे को बचाने-वाले
 सब देशमें बसते हैं प्रायः धर्मार्थीभी होते हैं पर अच्छे
 नेत्र वालों स्त्रीकी दृष्टि से काटे हुये को न कोई मन्त्रशी
 है न औषधि है ॥ ८६ ॥

इह हि मधुरगीतं नृत्यमेतद्रसोज्यं स्फुरति ।

परिमलोऽमौ स्पर्श एव स्तनानाम् ॥

इति हतपरमार्थैरिन्द्रियैर्ध्यायमाणो ।

द्व्यहितकरणदत्तैः पद्मभिर्विदितोऽस्मि ॥

(भा० टी०) यह कैसा सुन्दर मधुर गीत है, रूप
 देखो कैसा अच्छा है, इस वस्तु का रस कैसा स्वादिष्ट है
 इस वस्तु की कैसी अच्छी सुगंधि है, स्त्रीके स्तनों का
 स्पर्श क्या अच्छा सुख देता है इस भांति पर लोचकों
 नष्ट करनेवाली और अपने प्रयाजन साधने में आनी-

है इन पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से है नर ! तू हेर फेर
कर ठगाही गया ॥ ८७ ॥

गम्यो गन्त्राणां न च भवति भैषज्य विषयो ।
चापि प्रध्वंसं व्रजति विविधैः शान्तिकरातैः ॥
भ्रमावेशा दङ्गे किमपि विदधद्भव्यमसमं ।
स्मरोऽपस्मारोऽयं भ्रमयति दृशं घूर्णयति च ॥

(भा० टीका) यह कामदेव रूपी अपस्मार (मृगी)
रोग भ्रमके आवेश से बड़ा दुःखदाई शरीरको तोड़ता
और मनको भ्रमाता नेत्रोंको घुमाता है और इस रोग
में मन्त्रों की गति नहीं औरभी भी नहीं काम करती
अनेक प्रकार की शांति अर्थात् पाठ पूजादि से भी
नारा नहीं होता ॥ ८८ ॥

जात्यन्धाय च दुर्मृसाय च जरा जीर्णा खिलाङ्गाय च
शार्माणाय च दुष्कुलाय च गलत्कुशमिभूताय च ॥
यच्छन्तीपुमनोहरनिजवर्लक्ष्मलिय श्रद्धया ।
पण्यधीषु विवेकद्वयलतिराश्रयां रज्येत कः ॥

(भा० टी०) अन्धाय दुर्मृग्य वृद्धापनसे शिपिलोम
मंथार नीच जाति और दण्डने कोटने भरे पुष्टियोंकीभी
अपनी सुन्दर देह छोड़े धनकी आशासे समर्पण करती
है ऐसी बेवशा विवेक रूपी परवृत्तान्तो दुर्गति है उन

सै हीन बुद्धिमान् यमे ॥ ८६ ॥

वैरयामो नदनज्वालाहृषेन्धनसमेष्टिता ।

कामिभिर्वैत्र ह्यन्ते चापनानि धनानि च ॥

(भा० टीका) वैरया तो कामाणि धी ज्ञानमेव
कामं इत्यन्त से धनपुत्रैः कामी पुरुष उसीमें जाना
मं च वे त्व होम करो वै ॥ ८७ ॥

कर्मपुत्राणि कृत्वा गतो वैश्याभरणकृतं मनात्तमम् ।
पारमर्त्यमो गेयं दत्तं दद्यात्तन्निष्ठो न शशात् ॥

॥ इति कामिनीनिर्माणप्रश्नः ॥

(भा० टीका) वैश्याणां भरणपुत्रः यदि पुत्रो
हो वा त्वे कोन पुत्रो न पुत्रो भूत्वा कर्त्तव्यं तदा दत्तं
पारमर्त्यं न दत्तं शक्यं मोर जातं च भूत्वा न
दत्तं वै ॥ ८८ ॥

अथ पुत्रविक्रयप्रश्नः ।

अथ पुत्रविक्रयप्रश्नः ।

पुत्रविक्रयः कर्त्तव्यः ।

पुत्रविक्रयः कर्त्तव्यः ।

पुत्रविक्रयः कर्त्तव्यः ।

पुत्रविक्रयः कर्त्तव्यः ।

न ते मरी दृढ ओर पुष्ट स्तनवाली जिनके कुशोदर
 भियलीलता गोभतो है ऐसी खियोंकी आकृति देख
 र जिन पुरुषों के मनमें विकार नहीं उत्पन्न होता वे
 न्य हैं ॥ ६२ ॥

बाले लीलामुकुलितरमो सुन्दरा दृष्टिगताः ।

किं क्षिप्यन्ते विरम विरम व्यर्थ एव श्रमस्ते ॥
 सम्प्रत्यन्ये वयमुपरतं बाल्यमाम्नां वनान्ते ।

चोषोमोहस्तृणमिव जगज्जालमालोकयामः ॥

भा० टी०—: बाले ! लीला मे किंचिन् विकसित
 और सुन्दर कटाक्ष हमपर क्या फेंकती है विश्राम ले ले
 हमारे प्राति तेरा यह श्रम व्यर्थ है क्योंकि अब हम कुछ
 औरही होगये लडकरन हमारा छूट गया वनमें रहते हैं
 मोहभी क्षोण होगया और इस जगत के जालको तृण
 समान देखते हैं ॥ ६३ ॥

इयं बाला मां प्रत्यनवरतमिन्द्रीवरदल

प्रमाचोरं चक्षुः क्षिपति किमभि प्रेतमनया ॥

गतो मोहोऽस्माकं स्मरशवस्वाणव्यति ।

करज्वलज्ज्वलाः शान्तास्तदपिनवराकीविरमति

(भा० टी०) इस बाला स्त्री का क्रिया अभिप्राय है
 जो यह कमलदर्शोंकी प्रभाके तिरस्कार करनेवाले नेत्रों

को मेरी तरफ चलाती है अब हमारा अज्ञान गया -
कामदेव रूपी भीलके बाणोंसे उठी हुई अग्नि शांति हो
तोभी यह मूर्खिणी बांला विरामको प्राप्त नहीं है,
अर्थात् नेत्रों का फेंकना नहीं छोड़ती ॥ ६४ ॥

शुभ्रं सग्न सविभ्रमा युवतयः श्वेतात पत्रोज्ज्वला ।
लक्ष्मीस्तियनुभूयते स्थिर मित्र स्फोते शुभे कर्मणि
विच्छिन्नेनितरामनङ्ग कलङ्कोडानुत्तन्तुकं ।
मुक्ताजालमिव प्रयाति भटिति भ्रश्यदिशो दृश्यतां ॥

(भा० टी०) उज्ज्वल घर अच्छे हावभावयुक्त से
जन और श्वेत उन्नतदित शोभायमान लक्ष्मी तबही
स्थिरतासे भोगमें आती है जब पुण्य ही वृद्धि हो जाय
जब पुण्य क्षय हो जाता है तब देखो कामदेव ही काम
के कलशमें दूरे दूरके मोतियों के समान भ्रष्ट हो जाय
भोग शीघ्र ही देशान्तरोंमें लुप्त होजाता है ॥ ९५ ॥

सदा योगान्यामस्यसनवशयोरात्ममनसो ।

रविच्छिन्ना मेघा स्फुरति यमिनन्तम्य हिमुतः
प्रियाणामाद्यैरथरमधुभिर्वक्राधुभिः ।

मनिधामानोदेः सकृदकलशाश्लेषयुगेः ॥

(भा० टी०) जिनके अन्तरा और मन ही सदा
योगस्थान ही के व्यवसने निरंतर निवृत्त ॥ कला ॥

प्रिय स्त्रियोंके सम्भाषण, अधरामृत, स्वासों की
गन्धसहित, मुखचन्द्र और कुचकलशोंको हृदयसे लगा
र सुरतिसे क्या प्रयोजन है ॥ ६६ ॥

कन्दर्पं करं कदर्थयसि किं कोदंडभङ्गारिते ।
रे कोकिल कोमलं फलरवं किं त्वं वृथा वल्गसे ॥
गुधे स्निग्धाविदग्धमुग्धमधुरेल्लैः कटाचैरखं ।
तन्नुभितचन्द्रचूडचरणध्यानमृतं वर्तते ॥

(भा० टीका) अरे शुद्ध कामदेव अपने धनुष के
कोर शब्द से हमको क्या घास देता है अरे कोकिल
कोमल मधुर शब्दसे क्या वृथा योक्तता है और हे सुंदरी
प्रेम और चतुराईसे मेरे सुन्दर मधुर चंचल कटाक्ष अब
तु मत चला मेरा अस्वादित चंद्रचूड शिबजीके धारण
ध्यानरूपी अमृतमें मग्न होरहा है ॥ ६७ ॥

यदासीदज्ञानं स्मरतिमिरसंचारजनितं ।
तदा सर्वं नारोमयमिदमशेषं जगदभूत् ॥
इदानीमन्नाकं पटुतरविवेककाञ्चनदृशां ।
सर्वाभूता दृष्टिस्त्रिभुवनमपि ब्रह्म मनुते ॥

(भा० टी०) कामदेवरूपी तिमिर रोगसे उत्पन्न
अज्ञान जब तक मुझमें था तबतक समस्त जगत् ओमय
दृष्टि पड़ता रहा अब हमने सुन्दर विवेकरूपी अज्ञान

छाया है तो समझी होगई त्रैलोक्य ब्रह्म
पदता है ॥ ९८ ॥

चैराग्ये संचरत्येको नीतो भ्रमति चापरः ।

शृंगारे स्मते कश्चिदुवि भेदाः परस्परम् ॥

(भा० टीका) कोई पुरुष वैराग्य में संचार
कोई नीति में प्रवृत्त रहता और कोई शृंगार में
यों परस्पर मनुष्यों में इच्छा का भेद है इसलिये भर्तृहरि
का तात्पर्य यह है कि तीन प्रकार के मनुष्यों के हेतु
शतक निर्माण किये हैं ॥ ९९ ॥

इति सुविरक्तप्रशंसा ।

यद्यस्य नास्ति रुचिरं तस्मिंस्तस्यास्पृहा मनोज्ञेभिः ।
रमणीयेऽपि सुधांशो नमनःकामः सरोजिन्याः ॥

(भा० टी०) जिस पदार्थ में जिसकी रुचि नहीं
होती चाहै वह सुंदर भी हो तो भी उसे उसकी इच्छा
नहीं होती क्योंकि रमणीय चंद्रमा में कमोदनी की
इच्छा नहीं होती ॥ १०० ॥

॥ इति शृंगारशतकं सटीकं सम्पूर्णम् ॥

अथ श्रीः

भर्तृहरि विरचितम्



वैराग्यशतकं सटीकं ।

प्रारम्भः ॥

॥ श्रीः ॥

अथ भर्तृहरिकृतम् ।

वैराग्यशतकम् ।

श्रीगणेशायनमः ॥

दिग्गलायनवच्चित्राज्जन्त चिन्मात्र मूर्तये ।

स्वानुभूत्येकमानाय नमः शान्ताय तेजसे ॥

(मा० टी०) दिशा और काल जिसकी मूर्ति में
संशय नहीं कर सके और जो अंत रहित और चैतन्य
रूप है और जो अपने ही अनुभवों से जाना जाता है ऐसे
ज्ञान और तेजो रूप अशक्तों को नमस्कार है ॥ १ ॥

बोद्धाग्ने मत्प्रसस्ताः प्रभवः मयदुषिताः ।

प्रतोदोदयता आन्ये जीषमङ्गे सुभाजिनम् ॥

(मा० टी०) विद्या अभिमानों योग को अपने

मत्सरही से प्रसित हैं और धनवान् लोग अपने द्रव्यके गर्वसे किसी गुणोका आदरही नहीं करते और जो हैं सो साधारण अल्पज्ञ हैं इसलिये उनसे कहनेको भी जी नहीं चाहता इन कारणोंसे सुभाषित (उत्तम काव्य) शरीरही में जीर्ण होजाता है अर्थात् कदाचित् संसारमें प्रकट नहीं होता ॥ २ ॥

न संसारोत्पन्नं चरितमनुपश्यामि कुरालं ।

विपाकः पुण्यानां जनयति भयं मे विमृशतः ॥

महद्भिः पुण्यो वैश्वरपरिग्रहोताश्च विषया ।

महान्तो जायन्ते व्यसनमिव दातुं विषयिणाम्

(भा० टी०) सांसारिक उत्पन्न चरित्रमें हम कुराल

नहीं देखते और पुण्यफल स्वर्गादि विचारसे भयदायकही देख पड़ता है अर्थात् पुण्य क्षय होनेपर वहांसे भी पतन होते हैं और बहुत दिन पर्यन्त पुण्यके समूहसे इसलोक में जो विषयादि संचित किया है वहभी विषयाशक्तोंकी अन्तसमय दुःखदायकही है ॥ ३ ॥

उत्खातं निधिराङ्गया चितितलं धाता गिर्यतिवो ।

निस्तीर्णः सरितो पतिर्नृपतयो यत्नेन संतोषिताः ॥

मन्त्राराधनतत्परेण मनसा नीताः रमराने निराः ।

भास्वकाण्ववराट्कोऽपि न मया तृप्येऽधुना मुख मां ॥

भा० टी०—द्रव्य मिलनेकी आशासे मैंने ठौर
भूमि खोदी रसायन सिद्ध होनेके निमित्त पर्वतकी
धातुओंको फूंक डाली देशान्तर से धन वा रत्न
हेतु समुद्रभी मथडाला और बड़े प्रयत्न से राज
भी प्रसन्न किया और मंत्र सिद्ध करने के निमित्त मन
लगाकर निरंतर रातोंको महा स्मशानमें बैठे जागाकिया
परन्तु यथार्थ मुझे एक कौड़ीभी धातु न आई अन्तकार
हे तृष्णा अवतों मेरा पिण्ड छोड़ ॥ ४ ॥

भ्रान्तं देशमनेकदुर्गविषमं प्राप्तं न किञ्चित्फलं ।
त्यक्त्वा जातिकुलाभिमानमुचितं सेवा कृतानिष्फला
भुक्तं मानविवर्जितं परगृहे साशङ्कया काकव ।
षण्णैर्दुर्मतिपापकर्मनिरते नाद्यापि संतुष्यसि ॥

(भा० टी०) दुर्गम अनेक देशोंमें मैंने भ्रमण किया
पर कुछ फल न प्राप्त हुआ यथार्थ जाति और कुलका
अभिमान त्याग कर पराई सेवा की सो भी व्यर्थ हुई
अपमानसे कौबे के समान संशुद्धित पर घर भोजन भी
करता रहा हे तृष्णा दुर्मति और पापकर्म में प्रवृत्त तू
अवत नंतोय नहीं पकड़ती ॥ ५ ॥

स्वयोद्धायाः मोडा कयमपि तदाराधनपरे ।
निगृह्यन्तर्वाप्यं दसितमपि सुन्ये न मनसा ॥

अथिचपस्तम्भः महसितांमेयागञ्जलिरवि ।

ममारे मोवारो किमपरमतो नर्चयसिमाम् ॥

(भा० टीका) सत्की सेवा करनेमें हमने तिनके
 धर्म और कुतर्क वाक्य सहै हृदय नेम आसुको
 उनके जागे उदास मनसे हँसा किमे और पिछ
 कर उन हँसनेवालों के सम्मुख हाथभी जोड़ा
 पूजा स्पर्ध आशा करनेवाली इससे अधिक भय
 नचाती है ॥ ९ ॥

मादित्यस्य गतागतेरहरहः संचयीत जीवितं ।

आगेविहृकार्यभारगुरुभिः कालो न विज्ञायते ॥

दृष्ट्वा जन्म जराचपत्तिमरणं त्रासश्च नोत्पद्यते ।

गत्वा मोहमयीं प्रमादमादिरामुन्यस भूतं जगत् ॥

(भा० टी०) सूर्यके उदय अस्त होनेसे दिन प्रति
 दिन आयु घटती जाती है अनेक कार्योंकर भारी व्यापार
 कालका बीतना जाना नहीं जाता और जन्म मृत्युपन
 वेपत्ति और मरण देखकेभी त्रास नहीं होता इससे
 वह निश्चित हुआ कि मोहमयी प्रमादरूपी मरिचा पीके
 मग्न मतवाला हो रहा है ॥ १० ॥

रीना दंष्ट्रमुखैः सदेवशिशुकैः राकृष्टजीर्णाम्बरा ।

लोशाद्भिः क्षुधितैर्नरैर्न विधुरा दृश्येत चेन्नेदिनी ॥

यात्रा मङ्गभयेन गद्गदलसत्पुञ्जदिलीनाक्षर ॥
 क्लोदेहीति वदेत्स्वदग्धजठरस्याधमनस्वीजनः ॥

(भा० टीका) दीनों से भी दीन है मुख ।
 ऐसे बालक जिस स्त्री के फटे दलोंको खींचते हों
 अन्न के लिये रोतेहुए गृहके इतरमनुष्यों से जो ५
 हों ऐसी घरवाली (पत्नी) न होय तो ऐसा कौन
 मनुष्य है जो केवल अपने उदर भरने के लिये
 (मांगना) के भंग (नाहीं) के डरसे मदनद्वय
 से दूटे फूटे अक्षरोंवाली देही इस बाणीको कहै म
 स्त्रीही सब कहवाती है और पूरा ध्वन है ॥ ८

निवृत्ता भोगेष्वा पुष्पसुहुमानो विगलितः ।
 समानाः स्वर्गताः सपदि मुहदो जीवितसमाः ॥
 शनैर्यद्योत्थानं घन तिमिररुद्धे च नयने ।
 अक्षोष्टः कायस्तदपि मरणापायचकितः ॥

(भा० टी०) विषयभोग की इच्छा न्यून हुई, जो
 अपना मानभी घटा, बराबरी वाले भी मरगये,
 इष्ट मित्रप्रे वेमो समाप्त होनेवाले हैं अथवा अपने स
 हैं आपनी लकड़ी टेककर उठने लगे और आं
 अयेगे आईतानी यह काया ऐसी निर्लज्ज है कि म
 मरण मुन चकित होत्राहै ॥ ९ ॥

साशुन्य मयत्नलम्ब्य मशानं धात्रा मरुत्कल्पितं ।
मलानां पशवस्तृणांकुरभुजः सृष्टाः स्थलीशायिनः ।
तारार्थवत्तं घनक्षमधियां वृत्तिः कृतासा ।
तृणांयामन्वेपयतां प्रयान्ति सततं सर्वे समर्धि गुणाः ।

(भा० टी०) विधाता ने हिंसा रहित बिना प्रयत्न
पर बैठे वायु भोजन सर्वों के लिये जीविका घनाई
और पशु ऐसे घनाये जो तृणों को खाते हैं और भूमि
पर सोते हैं और जिनकी बुद्धि संसार रूपी समुद्र छांप
ने की समर्थ है उन मनुष्यों की वृत्ति ऐसी घनाई कि
जिसके खोज में सष गुण समाप्त होजायें पर वह न
सिद्धि होय ॥ १० ॥

न ध्यातं पदमीधरस्य विधिवत् संसार विन्निवृत्तये ।
स्वर्गद्वारकपाटपाटन पटुर्वर्मोऽपि नोपार्जितः ॥
नारिषीनपयोधरोरुयुगुलं स्वप्नेऽपि नालिङ्गितं मातुः ।
केवल मेव योयनवनच्छेदे कुटारावयम् ॥ ११ ॥

(भा० टी०) संसार उदने के लिये ईश्वर के चरण
कमलों का विधिवत ध्यान न किया स्वर्गद्वार खुलने के
लिये कोई निगुण धर्म भी संषय न किया और नारी
के पुष्टपयोधर और दोनों जंघा स्वप्ने में भी उठाता से न
छगांप केवल हम माता के योयनरूपी वन काटने के
रेतु कुटारादे ही उत्पन्न हुये ॥ ११ ॥

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ता ।

तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः ॥

कालो न यातो वयमेव याता ।

स्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः ।

(भा० टीका) विषयों को हमने नहीं भोगा
विषयों ने हमारा ही भुगतान कर दिया, हमने
सपे पर तपही ने हमें तपा डाला, कालव्यतीत
और वयस हमारी बीत गई और तृष्णा पुरानी
और हम पुराने होगये ॥ १२ ॥

चान्तं न चमया ग्रहोचितसुखं त्यक्तं न संतोष
सोढा दुःसहशीतवाततपनाल्लेशान्न तप्तं तपः
ध्यातं वित्तमहर्निशं नियमितप्राणैर्न शंभो पद
तत्तत्कर्म कृतं यदेव मुनिभिस्तेस्तैः फलोर्वचितम्

(भा० टी०) क्षमा तो हमने की परन्तु घम
चार के न की अर्थात् अशक्तता से की, ग्रहसु
ओढा परन्तु संतोष पकड़ के न ओढा, शीतोष्ण
का दुःसहदुःख सदा पर तप न किया, धनका धन
रते रहे परन्तु संयम से संस्थापन दाता शिवके च
प्याये हमने ये कर्म किये जिनको विचारवाले मुनि
प्रत्येक ठग कहा दे ॥ १३ ॥

समाक्रान्तं पलितेनाङ्कितं शिरः ॥
 शिथिलायन्ते तृण्यैका तरुणायते ॥ १४ ॥
 टी०) मुँहके घमटे सिङ्गुड गये सिरके बाल
 गये और सब अंग शिथिल होगये पर एक तरु-
 ण होती जाती है ॥ १४ ॥

अखण्डेन सर्पातो निशिवंद्रमाः ।
 च दिवा भानुरहो दौर्गत्यमृतयोः ॥ १५ ॥
 टी०) जिस आकाश के खण्डको ओढ़कर
 प्री को चन्द्रमा व्यतीत करता है उसी को ओढ़कर
 दिन को सूर्य व्यतीत करता है देखो यह दोनों इस
 भ्रमण में कौसी दुर्देशाको प्राप्त होते हैं पर कुछ फलभी
 नहीं प्राप्त करते ॥ १५ ॥

अपश्यं यातारश्चिरतरमुपित्वापि विषया ।
 वियोगे को भेदस्त्यजति न जनो यतवयमभूत् ॥
 व्रजन्तः स्वातन्त्र्यादतुलपरितापाय मनसः ।
 स्वयं त्यक्त्वा धेते शमसुखमनन्तं विदधति ॥
 टी०) बहुलावस्थान्त भोग किये हुये विषय
 अन्त में अवश्य छूटेंगे फिर उनके वियोग होने में क्या
 संशय रहा जिसे यह मनुष्य पाहिजे आसही क्यों न त्याग
 दे क्योंकि जब वे आपसे उठेंगे तो मनको बड़ा संशय

वेंगे और जो आप छोड़ देगा तो महा सुख से
होगा ॥ १६ ॥

तृष्णाधिकारमाह ।

विवेकव्याकोशे विदधति शमे शाम्यति तृषा ।

परिष्वजे तुङ्गे प्रसरतितरां सा परिणतिः ॥

जराजीर्णश्वयग्रसनगहनाक्षेपकृपण- ।

स्तृषावात्रं यस्य भवति मारुतामप्यधिरतिः ॥१७॥

भा० टी०—जब विवेक के प्रकाश से शांति प्राप्त
होता है तब तृष्णा भी शांत हो जाती है और ऊँचे
गगन के संसर्गसे वही तृष्णा ऐसी फैल जाती है जिस
द्वारा जरा से जीर्ण पृथ्वीके कटोरे त्यागनेमें इन्द्र भी
मय होता है अर्थात् महान् पदवी वाला इन्द्र भी
को नहीं त्याग सकता ॥ १७ ॥

मदनविडम्बनमाह ।

दृग्ः काणः सन्नः शरणरहितः पुच्छमिह जे ।

रुग्ः पुनिहिनः रुनि इत्यनेतावतवतुः ॥

वृत्तं चानो जीर्णः सिद्धिर्न कया तातिमत्तः ।

मूर्धन्येति वा दलमपि न इत्येव मदनः ॥१८॥

(भा० टी०) दुष्ट भूत का मया विद्वेष्ट

कटे हैं और घाव हो रहा पीव पड़ती देह में कीड़े
हैं भूखा बूढ़ा जिसके फूटी हांडीका घेरा गलेमें कैस
है ऐसा कुचा भी कुत्तियों के पीछे संगम करने को
ठा जाता है तो देखो मृतक को भी कामदेव मारता
सारांश यह कि हृष्ट पुष्ट देहधारी फिर काम से कैसे
बचेंगे ॥ १८ ॥

विषयाणामधिकारमाह ।

शिचाशनं तदपि नारसमेकवारं ।
शय्या च भूः परिजनो निजदेहमात्रम् ॥
यत्नं च जीर्णशतखण्डमलीन कन्या ।
हा हा तवापि विषया न परिपजन्ति ॥१९॥
(भा० टी०) निरस अन्न एक ही बेर भीख मांग
के खाते हैं भूमि ही पर सोते हैं कुटुंब भी उनका देह
ही मात्र है पुराने बख्त सैकड़ों टुकड़ेकी सी गुदड़ी पहिने
ऐसी दशा में प्राप्त हैं तो भी बड़ा आश्चर्य है कि उन्हें
विषय वासना नहीं परित्याग करती ॥१९॥

रूपतिरस्कारमाह ।

स्तनो मांसग्रन्थी कनककलशवित्युपमितो ।
मुखं श्लेष्मागारं तदपि च शशांकेन तुलितम् ॥
स्रवन्मूत्रक्षिप्तं करिवरकरस्पर्धि जघनं ।
मुहान्निर्गन्धं रूपं कषिजनविशेषैर्गुरु कृतम् ॥

विनय गनुमन्तुं नोत्सहे दुर्जनानाम् ॥२२॥

(भा० टीका) बहुत से फल भोजन के लिये मधुर जल पीने को पृथ्वी सोने को और वृक्षों के चकले पहिरने के निमित्त हैं फिर थोड़ासा धमरूपी मदिरापान बाछे जिनकी सप इन्द्रियां घूमती हैं ऐसे दुर्जनोंका निरादर एम क्यों तर्हें ॥२२॥

मानितामुद्दिश्याह ।

विपुलहृदयेसौस्तेजगजानितं पुरा ।

विषूतमपरिदत्तं चान्यैर्विजित्य तृणं यथा ॥

इह हि भुवनान्यन्ये धीराश्चतुर्दश भुञ्जते ।

कतिपयपुरस्वाम्ये पुंसां क एष मदञ्जरः ॥२३॥

(भा० टी०) कोई महात्मा ऐसे भव जिनमें जगत् भये उत्पन्न किया कोई ऐसे पुर कि जिनमें पाषाण किया कोई ऐसे हुए जिनमें इते जीवकर लुप्त समस्त औरों को दे दिया और वे ऐसे हैं कि सोदर भुवन को पालते हैं जब यहाँ देखो कि योहिसे नांव का टुकड़ाई पाकर जो अभिमान का अरु लोगो को होता है यह क्या ॥ २३ ॥

निःसृष्टाणामभिदारः ॥

तत् सज्जं यदप्युपासितं ब्रह्माभिमतो जगत् ।

ख्यातस्त्वं विभवेर्यशांसि कवयो दिक्षु प्रतन्वन्ति न
इत्थं मानदनातिदूरमुभयोरप्यावयोरन्तरं ।

यद्यस्मात्तु पराङ्मुखोऽसि वयमप्येकान्ततोनिः स्पृह

(भा० टी०) तू राजा है तो मैं भी गुरुकी बुद्धिमान हो उच्चपदको प्राप्त हुआ हूँ तू यदि धन से प्रसिद्ध है तो हमारी विद्या का यश कविलोग देशान्तर में वर्णन कर रहे हैं फिर तू हम से मुख फेरता है तो तू तुम से अधिक निःस्पृह हूँ ॥२४॥

अमुक्तायां यस्यां क्षणमपि न यातं नृपराति ।

भुम्बस्तस्या लाभे कद्व बहुमानः क्षितिभुजाम् ॥

तदंशस्याप्यंशे तदवयवलेखेऽपि पतयो ।

विषादेकतन्त्र्ये विदधति जडः प्रत्युत मुदम् ॥

(भा० टीका) सैकड़ों राजा इस पृथ्वीको अर्जुन मान अक्षेपण पर उनसे यह भोगी न गई तो इतने शान दोनसे राजाओं को क्या अभिमान करना चहिये अब तो उमके टुकड़े का टुकड़ा फिर तिसका टुकड़ा उममेनी ग्यून अंश पाके अपने को भुपति मानते हैं जो बात सोच करने के योग्य है उममें मूर्खों के जो टुकड़े आनन्दही मानने दें यह आश्चर्य है ॥२५॥ इन्द्रियदो नष्टरेसुया बलवितः सर्वोऽप्यय न तनु ।

श्रुत्य स एव संयुगशते राज्ञां गणैर्भुज्यते ॥

इद्युर्ददतेऽथवा न किमपिशुद्रा दरिद्रा भृशं ।

क्षिप्रिश्चिक्ताः पुरुषाधमान् धनकणं वाञ्छन्ति तेभ्योऽपि

(भा० टी०) यह भूमि एक मिट्टी का लोहा पानी की रेखा से घिरा हुआ है पड़िले आपही यह सम्पूर्ण छोटा सा है तिते राजा सैकड़ों लडाइयां लड लड कर अपना अपना भाग बांटके किसी प्रकारसे भोगते हैं ऐसे शूद्र औ दरिद्र को जो बडे दानो कहाते हैं अथ भी देखे दान करते हैं या नहीं यों कह कह के उनगे धनके कणिका को बाँछा फाते हैं विन अथम पुरुषों को धिक्कार है ॥ २६ ॥

दुर्भगसेवकस्य वाक्यमाह ।

न नटा न विटा न गायना न परद्रोहनिवद्धबुद्धयः ।

नृपसन्ननि नाम केवयं कुत्रभारानमिता न यांपितः ॥

(भा० टी०) न तो हम नट हैं न परस्त्रियोंसे जंघट हैं न गवये हैं न झूठे लघार हैं और न धड़े स्तनशूली थी हैं फिर हमको राजाओंके घर कौन पूछता है ॥ २७ ॥

पुन विदत्तासीदुपशमयतां हेरा हतये गता ।

कालेनातो विषयसुख सिद्धये विषयिणाम् ॥

इदानीं तु मेक्ष्य चितितलानुजः शासविमुखा ।

नहो कष्टं सापि प्रतिदिनमऽधोधः प्रविशति ॥

(भा० टी०) पहिले जो विद्या पण्डितों के चित्तों
लेश दूर करने के निमित्त थी फिर कुछ दिन पर वह
विषयों लोगों के विषय सुखके सिद्धि होनेके छिये गई
अर्थात् विद्यासे राजों को प्रसन्न करके धन आदि से
सुखभोग करना इस काम की हुई इस समयमें राजोंके
शास्त्र सुनने से विमुख देखकर प्रतिदिन वह विद्या अ-
धोगतिकी प्राप्त होती जाती है यह बड़ा कष्ट है ॥ २८ ॥

साहंकारं पुरुषमुद्दिश्याह ।

सजातः कोऽप्यासीन्मदनरिपुणा मूर्ध्नि धवलं ।

कपालं यस्योच्चैर्विनिहितमलङ्कारविषये ॥

नृभिः प्राणत्राणप्रवणमतिभिः कैश्चिदर्धुना ।

नमस्त्रिः कः पुंसामयमतुलदर्पज्वरभरः ॥

(भा० टी०) पहिले तो ऐसे पुरुष हुए हैं कि

उज्ज्वलमस्तककीमाला बनाकर तो शिवजीने धारण

कि जिससे कंठका भूषण हो अब देखो

पोषण करनेवाले थोड़ेसे मनुष्यों से प्रतिष्ठा

अभिमान के ज्वरसे भारी हो रहे हैं ॥ २९ ॥

अर्थानामाशिषेत्वं वयमपि च गिरामः ॥

शूरत्वं वादिदर्पव्युत्तम् ॥

सेवन्ते त्वं धनाद्या मतिमलद्वये मामपि श्रोतुकामा ।
मय्यप्यास्थान ते चेत्त्वयि ममनितसमेव राजन्ननास्था ॥

(भा० टीका) तुम धनके कोशके ईश्वर हो तो हम भी विद्या के कोश के ईश्वर हैं तुम युद्ध करने में वीर हो तो हमभी सास्त्रार्थ करनेवाले वादी प्रतिवादियों के अनिगान का ज्वर तोड़नेमें कुशल हैं तुम्हें बड़े लोग धनान्ध अथवा धन पादनेवाले आशाग्रस्तित सेवन करने हैं तो हमेंभी अपने बुद्धि का अज्ञान दूर करने को शास्त्र सुनने की हृत्तायाते सेपने ॥ तो हे राजन् ! यदि हमारे विषय तुमजारी अच्छा नहीं हैं तो हमारी भी अच्छा तुम में नहीं है जो अथ हम जाते हैं ॥ ४० ॥

यदा निविज्जोद्धं द्विव ह्य मदान्धः मगभवं तदा ।

सर्वज्ञोऽर्थात्त्वमवदरतिते मम मनः ॥

यदा निविज्जोद्धं द्विव ह्य मदान्धः मगभवं तदा ।

सर्वज्ञोऽर्थात्त्वमवदरतिते मम मनः ॥

(भा० टी०) जब मैं उ० उ० मोहा का ज्ञानवाध तब

हाथी के समान मुझे जड़ था और मेरे मन में यह था कि मैं सर्वज्ञ हूँ और जब मैं बेचिने के मदान्ध में उ० उ० मगभवा तब मैंने जाना कि मैं मूर्ख हूँ और जब मैंने

निर्ममतास्वरूपमाह ॥

अतिक्रान्तः कालो लटभल्लनाभोगसुषगो ।

अमन्तः श्रान्ताः स्मः सुचिरमिदं संसारसरणी
इदानीं स्वः सिन्धोस्तटभुवि समाकन्दनगिरः ।

सुतारेः फुत्कारैः शिव शिव शिवेति प्रतनुमः

(भा० टी०) भूषण आदिसे शोभित जो लो उनके

भोगने में सुभग (योग्य) यौवन (समय) तो बीत गया

और चिरकाल तक इस संसारके मार्गमें धमते २ हम

यह गये अवतार श्रीगंगाजी के तटकी भूमिपर उक्त द्विपों

की निन्दा करते हुये हम शिव २ यह जप करेंगे ॥३२॥

माने ग्लापिनो लण्डिते च वसुनि व्यर्थे प्रयातेऽर्थिनि

धीणे वन्धुजने गते परिजने नष्टे शनैर्वैरिणे ॥

मुक्तं केवलमेतदेव सुविषां यजन्हुकन्यापयः ।

पूतप्रातगिरिन्द्रकन्दस्तटीकुन्ने निवासः कनित्र

भा० टी०) अब प्रणिष्टा भोग हुई द्रव्य नाश हो गया

तब वह लोग आगे २ विमुख हिए जाने लगे आता लो

त्र और सम्बन्धी आदि भ्रष्ट हो गये उन समय पुद्दि-

मान पुरुषों को उचित है कि जिस पति के पापान में

पापक में पवित्र है उससे कन्दरा के समान दगे और

इस में बड़ी निराश करे ॥ ३३ ॥

परेषां चेतांसि प्रतिदिवसमारान्य बहु हा प्रसादं ।

किं नेतुं विशासे हृदय क्लेशकलितम् ॥

प्रसन्ने त्वय्यन्तः स्वयमुदितचिन्तामणिगुणे ।

विमुक्तः संकल्पः किमभिलषितं पुण्यातिनते ॥

(भा० टी०) हे मन ! तू पराये चित्तमें प्रसन्न करने को क्या प्रसाद लेनेके हेतु क्लेशसे मलीन होता हुआ घुसता है तू सर्व संकल्प अर्थात् तृष्णा छोड़कर अपनेही में प्रसन्न होकर चिन्तामणि केसे गुण प्रगट करेगा अर्थात् शांति संतोषादि गुण ग्रहण करेगा तो क्या देखी अनिलाया पूरी न होगी ॥ ३४ ॥

अथ भोग पद्धतिः ।

भोगे रागभयं कुले च्युतिभयं वित्तेनृपालाद्रयं ।

माने दैन्यभयं बले रिपुभयं रूपे जराया भयम् ॥

शाल्वे वाद भयं गुणे खलभयं काये कृतान्ताद्रयं ।

सर्वं दस्तु भयान्वितं भुवि नृणां पैराग्य मेवाभयं ॥

भा० टी०—भोग में रागका भय, सुख बढनेमें डूबने का भय, अधिक धन होने से राजभय, मान होने में दीनता का भय, संग्राम जीतने में शत्रुभय, रूपमें सुखावस्थाका भय, शत्रुसे नाश पडनेमें अज्ञानभय

भय, सद्गुण में दुर्जनका भय; और शरीर में मृत्यु का भय, यों सर्वत्र भयकेही स्थान देख पड़ते हैं केवल वैराग्यही निर्भय ठौर है ॥ ३५ ॥

अर्माणां प्राणानां तुलितिविमिनीपत्र पयसां ।

कृतं किनास्माभिर्विगलितविवेकैर्व्यवसितम् ।

यदाढ्यानामग्रे द्रविणमदनिः संकमनसां ।

कृतं वीतवीडैर्निजगुणकयागातकमपि ॥

(भा० टीका) जैसे कमल के पत्र पर जलके बुन्ड चंचल रहते हैं वैसेही इन चंचल प्राणों के हेतु विवेक त्यागकर हमने क्यों उद्यम न किया! क्योंकि जिससे धनके मदसे मदान्व लोगोंके निकट अपना गुण गाना करना यह पाप निर्लज्ज होके किया ॥ ३६ ॥

आतः कष्टमहो महान्स नृपतिः सामन्तचक्रं च ।

तत्प्राप्ये तस्य च सापि राजपरिषत्ताश्चन्द्रविम्बाननाः ।

उद्रिकः सचरानपुत्रनिबहस्तेवन्दिनस्ताः कथा ।

सर्वे यस्य वरादगात्स्मृतिदं कालायतस्मै नमः ॥

(भा० टी०) पड़िले यहाँ कैसी सुन्दर नगरी थी उसका राजा कैसा उत्तम था और राज्य उसका कैसा दूरतक था उसके निकट नमा कैसी होती थी और चन्द्रनुतो लिंगों कैसी शोभायमान थी और राजाके

पुष्पोंका समूह कैसा प्रचल था कैसे वे धन्वीगण थे और
कैसी श्रृङ्गीर कथा कहते थे अब वे सब जिस कालके
परा होकर लुप्त होगये उस बली कालको नमस्कार है ॥ ३७ ॥

पुनःकामनुद्धिदश्याह ।

वयंपेभ्योजाताश्चिरगणिताएव बलुते समं येः ।

संवृद्धाः स्मृतिमिषयतां तेऽरि गणिताः ॥

इदानीमेतेह्यः प्रतिदिवस मात्ननस्तनाद्रता- ।

स्तुष्यावस्थां सिकतिलनदोतीरस्तग्भिः ॥

(भा० टी०) जिनके संग हम जन्मे थे उनको तो
गये बहुत दिन बीते फिर जिनके साथ हम बड़े हुए
वे भी स्मरण पदमें गये अर्थात् मेरे अब हमभी दिन
दिन गिरते देख पड़ते हैं पालुवा नदी तटके लूटा के
तुल्य दशाको प्राप्त हो रहे हैं ॥ ३८ ॥

यत्रानेके कचिदपि गृहे तत्र तिष्ठत्येको ।

यत्राप्येकस्तदनु यद्यस्तत्र चान्ते न चैकः ॥

इत्थं चेमी रजनिदिवसो दोलयन् द्राविवाची ।

कालः काल्या सह बहुकलः क्रीडते प्राणसारेः

(भा० टी०) जिस घरमें अनेक थे वहां एक दृष्टि
पड़ता है और जहां एक था वहां अनेक देख पड़ते हैं फिर
एकही रह गया तो देखो रात और दिनके प्राप्ते लुप्त

के इस संसार रूपी चौपड़ में प्राणियोंको गीटी बनाने के काल पुरुष अपनी कालरात्रि शक्ति से खेल रहा है ३९ ।

तपस्यन्तः सन्तः किमधिनिवसामः सुरनदीं ।

गुणोदारान् दारानुत्तरपरिवरामः सविनयम् ॥

पिवामः शास्त्रीयानुतः विविधकाव्यामृतरसान् ।

विद्मः किं कुर्मः कतिपयनिमेषायुषि जने ॥

(भा० टी०) तप करते हुए गंगातट पर यज्ञ अथवा गुणवान् स्त्रियों के संग प्रेम सहित विचरें वा वेदान्त शास्त्र समूह और अनेक काव्यामृतरस पियें भावार्थ इस निमेषमात्र आयुष्यवाले देहको देखकर हम वही जान सकते कि क्या करें ॥ ४० ॥

गंगातीरे हिमगिरिशिलावद्वपश्चासनस्य ।

ब्रह्मध्यानाभ्यासनविधिना योग निद्रां गतस्य ॥

किं तेर्भाव्यं मम सुदिवसैर्यत्र ते निर्विशंकाः ।

कण्ठयन्ते जरठहरिणाः स्वांगमंगे मदीये ॥

(भा० टी०) जिस समय हम गंगा के तट हिमालय की शिलापर आसन लगा पश्चासन बांधे बैठेंगे और ब्रह्मज्ञान के अभ्यास में विधिपूर्वक आंख मूंद योगनिद्रा में प्राप्त होंगे, देखें हमारे ऐसे सुदिन कब होते हैं जहां निःशंक हो बूढ़े २ हरिण हमारे देह में अपना अंग रगड़ के सुजलाइट मिटावेंगे ॥ ४१ ॥

सुरत्स्फार ज्योत्स्ना धवलि ततले कापिशुलिने ।

सुखासीना शान्तध्वनिषु रजनीषु पुसरितः ॥

भवाभोगोदिमाः शिवशिवशिवेत्युच्चवचसः ।

कदा यास्यामोऽस्तर्गतबहुलवाण्याकुलदशाम् ॥

(भा० टी०) जहाँ प्रकाशित फैली चांदनी से नि-

क स्थल हैं ऐसे गंगातटमें सुखसे बैठे रहें जब सब ध्व

पन्द हो तब रात्रिमें शिव ३ आर्चस्वरसे कहते हुए सं

र के दुःखसे व्याकुल हो और आनन्दके आंसुओं से

नेत्र हो रहे हैं ऐसे हम कब होंगे ॥ ४२ ॥

महादेवो देवः सरिदपि च सैषा सुरसरि- ।

द्रुदा एवागारं वसनमपि ता एव हरितः ॥

मुहुरा कालोऽयं व्रतमिदम देन्यव्रतमिदं ।

क्रियद्वा वक्ष्यामो वटविटप एवास्तु दयिता ॥

(भा० टी०) महादेवही एक देव, गंगाही नदी, एक

मुहाही घर, दिशाही वस्त्र, कालही मित्र, किसीसे दीन न

होना यही व्रत, और कदा तक कहें वटका वक्ष्यही हूँ

मागी वल्लभा हो ॥ ४३ ॥

शिरः शार्वं स्वर्गात् पशुपतिशिरस्तः क्षितिधरं ।

महोभ्रादुत्तुंगादवनिमवनेश्चापि जलधिम् ॥

अधो गंगा सेयं पदमुपगता स्तोकमधवा ।

विवेकप्रधानां भवति विनिपातः शतमुखः ॥

(भा० टी०) जो विवेकसे भ्रष्ट होते हैं उनके
 चे पदपर गिरना सैकड़ों प्रकारसे होता है देखो यह
 गंगा स्वर्गसे तो शिवजी के शिरपर गिरी और शि-
 हिनाचल पर्वतपर और ऊँचे पर्वत से पृथ्वी पर
 पृथ्वी से समुद्र में गिरी ॥ ४४ ॥

आशा नाम नदी मनोरथजला तृष्णातरङ्गाकुल
 रागप्राद्वता वितर्कविदग्धा धैर्यद्रुमध्वंसिना ॥

मोक्षवर्त्तनुदुस्तरातिगहना मोक्षुद्गविन्तातरी ।

तस्याः पारगता विशुद्धमनसो नन्दन्ति योगीश्वराः ।

(भा० टी०) आशा नाम एक नदी है मनोरथ क
 लठ उसमें भरा है तृष्णारूपी तारंगों से पूर्ण है प्रीति
 उसमें भरा है नानाविधि की तरंगों की उसमें पशु है
 धैर्यरूपी वृक्षको टाढ़नेवाली है मोक्षरूपी मोक्ष उसमें गये
 हैं इसमें पशु दुस्तर और कठिन हो रही है पशु विशुद्ध
 हो उनसे नष्ट हैं उससे पार होकर बड़े शुद्ध मनवालों
 पार होना योगीश्वर ही आनन्द पाते हैं ॥ ४५ ॥

प्राप्तिनारं विभुवननिदं विग्नतां तान तादृश ।

नेमान्नाहं नयनादयं श्रोत्रवार्त्तमा ॥ ४६ ॥

दोन्व नन शिष्यद्विग्नतामादृशतिमान् ॥

प्रेमस्यान्तःकरणद्विग्नतां प्रेमनामान्द्रोशान् ॥

टी०) जबसे यह संसार प्रवृत्त हुआ है आज
ई ! हम त्रिभुवन में दूँदते किरते हैं पर ऐसा
ने और सुननेमें न जाया जो विषयरूपी दधिनी
हुआ है अत्यन्त अहंकार जिसको ऐसे अन्तः
रूपी उन्मत्त हाथीको रोककर यशमें रखे अर्थात्
में फंसा मन यशमें नहीं हो सकता ॥ ४६ ॥

सांप्रत निर्वेदतायाः स्वरूपमाह ।
वर्द्धतयनपतिपुरःपार्थनादुःसभाजो ये ।
चालत्वं दयति विषयाक्षेपपर्यन्त बुद्धेः ॥
तमामन्तःस्फुरितहसितं वासराणां स्मरेयं ।
ध्यानच्छेदेषिसरिक्कुदस्त्रावश्यानिपणः ॥

(भा० टी०) जो दिन धनवानों के निकट प्रायणा
या बुद्ध सटनेवालों को बढाते हैं और जो विषयों
के नष्ट होनेसे विपरीत बुद्धिवालों को ठोटे प्रतीत होते
हैं उन दिनों को हम अन्तःकरण में बैठकर ध्यान से
विश्राम को पाकर धर्मकी बंदस में पत्थरकी चट्टानकी
रूप्या पर बैठे हुए हमारा हृदये अर्थात् विरल
होगे ॥ ४७ ॥

विद्या नाधिगता कलङ्कयति दिवं च नोनर्जितं ।
शुभ्रपाणि सनादितेन मनसा मित्रेण सम्राटिवा ॥

६ स तु भवति दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला ।

मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान्को दरिद्रः ॥

(भा० टी०) हम वृक्ष के बकले पहिर के संतुष्ट हैं तुम धनसे संतुष्ट हो जब हमारी तुम्हारी तुष्टी सम ठहरी तब संतोष निर्विशेष हुआ अर्थात् भेद न रहा दरिद्री वह होता है जिसे बड़ी तृष्णा है जब मन संतोष से पूर्ण हुआ फिर कौन दरिद्र और कौन धनवान् है ॥ ५० ॥

यदेत्स्वाञ्छन्धं विहरणमकार्ष्यमशनं ।

सहायैः संवासः श्रुतशुपशमेकव्रत फलम् ॥

मनो मन्दस्पन्दं वहिरपि चिरस्यापि ।

विमृशन्न ज्ञाने कस्येषापरिणतिरुदारस्य तपसः

(भा० टीका) स्वाधीन विचरना, बिना पांचे भोजन करना सहाय करनेवाले श्रेष्ठ पुरुषोंके संग रहना ऐना शाल्व कहना व सुनना कि जिसका उपशम रूपी वतही फल हो और यदि मन याद पदार्थों में हो तो धियार करता हुआ नन्द मन्द गमन करे यह सब प्राप्त होना हम नहीं जानते कि किस प्राचीन और बड़े तपस्वी फल है ॥ ५१ ॥

पाणिः पात्रं पवित्रं भ्रमणपरिगतं भिक्षुमक्ष्यमन्नं ।

विस्तोर्णं बह्मश्यानुदयकमलं तत्त्वमस्वत्सुर्वो ॥

येषां निःसंगताङ्गीकरण परिणतिः स्वात्मसन्तोषिणस्तं
धन्याः संन्यस्त दैन्यव्यतिकरानिकरा कर्मनिर्मूलयन्ति

(मा० टी०) अपने आत्मा में संतोषवाले उन पुरुषों
को धन्य है कि जिनका हाथ-हा पैर है और जो भ्रमण
करके भिक्षा का अन्न खाते हैं और जिनका निर्मल
दिशारूपी दशावाला आकाश वस्त्र है और छोटीसी
पृथ्वी शय्या है और जो परिणाममें असंग (अकेले)
रहने को स्वीकार करते हैं और जिन्होंने दीनता के
समूहको भली प्रकार छोड़ दिया है और जो कर्मकी
जड़को उखाड़ देते हैं ॥ ५२ ॥

दुराराध्यः स्वामी तुरगचलचित्ताः क्षितिभुजो ।

वयं तु स्थूलेच्छा महति च पदे बद्धमनसः ॥

जरा देहं मृत्युर्हरति सकलं जीवितमिदं ।

सखे नान्यच्छ्रेयो जगति विदुषां ज्यत्र तपसः ॥

(मा० टी०) स्वामीकी सेवा करनी बड़ी कठिन है
और राजा घोड़े के समान चंचलचित्त होता है हम तो
मोटी इच्छावाले हैं बड़े पदमें हमारा मन बंधा (लगा)
हुआ है और देहकी वृद्ध अवस्था है संपूर्ण जीने को
मृत्यु हर लेती है इनसे है भिन्न ! च नवान् को तपसे
अन्य कल्याण कहीं नहीं है ॥ ५३ ॥

भोगा मेघवितानमध्यविलसत्सौदामिनीचञ्चला ।
 आयुर्वायुविवद्विताभ्रपट लीलीना बुवद्भगुरम् ॥
 लोला यौवन लालना तनुभृतामित्याकलयद्भुतं ।
 योगेधैर्य समाधि सिद्धिसुलभे बुद्धि विधदध्वं बुधाः ॥

भा० टी०—विस्तृत मेघमें चमकता हुई बिजुली के
 समान देहधारियोंका भोग चंचल है वायुसे छिन्न भिन्न
 मेघजलकी सदृश आयुष्य नाशवान् है यौवनका उमंग
 भी स्थिर नहीं है हे पण्डितो ! ऐसा समझकर धैर्य
 समाधि की सिद्धि से सुलभ जोग योग है तिसमें बुद्धि
 धारण करो ॥ ५४ ॥

पुण्ये ग्रामे वने वा महतिसितपटञ्चनगालीं कपाली ।
 मादाय न्यायगर्भं दिजमुखहुतभुग्भूमघम्रोपकण्ठम् ॥
 द्वारंद्वारंमवृत्तोवरमुदरदरीपूरणायक्षुधातो ।

मानो प्राणो सघन्योन पुनरनुदिनं तुल्यकुल्येषुदीनः

(भा० टी०) पवित्र प्राग अथवा पवित्र बड़े पनमें
 उज्ज्वल यस्त में ठाण्डा ठीकरा लेकर जिनकी पीछट
 न्यायपूर्वक प्रज्ञाओं की दोमो हुई अर्थात् भूगते मलिन
 हो उनके द्वारा लुप्तते पीड़ित पेटरूपी कन्दरा भरने
 को निरर्थ प्रति भ्रमण करता हुआ मानो पुनः अन्ध
 है पर सामान दुःखियों में दान देना

चाण्डालः किमयं द्विजातिरयवा शूद्रोऽयं किं तापसः
 किंवा तत्त्वनिवेशपेशलमतियोंगीश्वरः कोऽपि किम् ।
 इत्युत्पन्नविकल्पजल्पमुखैः सम्भाष्यमाणजने ।
 नकुद्धाः पयि नैव तुष्टमनसो यान्ति स्वयं योगिनः ॥

(भा० टीका) यह चंडाल है, वा ब्राह्मण, शूद्र, तपस्वी अथवा तत्त्वविवेक में चतुर बुद्धिमान् कोई योगीश्वर है ऐसे संदिग्ध अनेक प्रकार के वक्ताजनों के विकल्पों करके मार्ग में संभाषण करने पर भी योगी लोग राग द्वेष नहीं करते किन्तु स्वच्छन्द अपने मार्ग चले जाते हैं ॥ ५६ ॥

सखे धन्याः केचित् झुटितभवन्धव्यतिकरा ।

वनान्तेचित्तान्तर्विषमविषयाशीविषगताः ॥

शरच्चन्द्रज्यात्स्नायवलगगनाभोगसुभगां ।

नयन्ते ये रात्रिं सुकृतचयाचितैकशरणाः ॥

(भा० टी०) हे मित्र ! उन पुरुषोंको धन्य है जो वन में बैठे हुए शरच्चन्द्रकी चांदनी से श्वेत, आकाश के विस्तारसे सुन्दर और मनोहर रात्रिको इस प्रकार बिताते हैं कि दुष्पका समूह जिनके मनमें शरण है और जिन्होंने भवबन्धनके सेन को तोड़ दिया है और जिनके मनमें से भयानक कठोर सर्पहृन्नी विषय निकल गया है ॥ ५७ ॥

एतस्माद्विरमैन्द्रियार्थं गहनादायासकादाश्रया ।
 च्छ्रेयोमार्गं मरोपदुःस्तरामन व्यापारदत्तं क्षणात् ॥
 शान्तं भावमुपैहि संत्यज निजां कल्लोललोलां गतिं ।
 मां भूयो भज भंगुरां भयरतिं चेतः प्रसादाधुना ॥

(भा० टी०) हे चित्त ! बड़े परिश्रम से प्राप्त हुए
 और दुःखदाई आश्रय वाले इन्द्रियों के विषयरूपों धन
 से विश्राम ले सकल दुःखध्वंस करने के व्यापार में
 समर्थ कल्याण मार्गको शीघ्र प्राप्त हो, शान्तभाव ग्रहण
 कर तरंगसी अपनी चंचलगती छोड़ दे इस नाशवान्
 संसार की इच्छा को फिर सेवन मत कर अब तू आपसी
 प्रसन्नरूप हो ॥ ५८ ॥

पुण्यैर्मूलकलैः प्रिये प्रणयिनि प्रीतिं कुरुष्वधुना ।
 भूराय्यानवल्कलैरकरणैरुत्तिष्ठ वामो वनम् ॥
 क्षुद्राणाम विवेकमूढमनसां यत्रेश्वराणां सदा ।
 चित्तव्याप्यविवेकविह्वलागिरां नागाणि न भ्रूयते ॥

(भा० टी०) अब हम वनों जाती हैं हे दुष्टि हे प्रण-
 यिनी ! प्रीति करनेवाली, तू भी उठ और पवित्र पाल
 मूलसे अब अपना पोषण कर; बनी बनाई भूमि क्षुद्र
 और बने बनाये नवीन वल्कलके वनों से निर्वाह कर
 जिस धनमें अविवेक से जिनका मूढ़ मन है

सुदृढ़ है और घनरूपी व्याधि जनित अविचारसे जिनकी बुद्धि विवहल है उनका नामभी सुनाई नहीं देता है ॥ ५६ ॥

मोहं मार्जयतामुपार्जय रतिं चन्द्रार्थं चूडामणौ ।

चेतः स्वर्गतरंगिणीतटभुवामासङ्गमङ्गौकुरु ॥

को वा वाचिषु बुद्धिदेषु चतडिल्लेखासु च घ्नीषु च ।

ज्वालाग्रेषु च पत्रगेषु च सरिद्रेगेषु च प्रत्ययः ॥

(भा० टी०) हे चित्त ! मोहको छोड़ जिनके शीर्ष में अर्द्ध चंद्र विराजमान है उन शिवजी में प्रीति कर और गंगातट के तटों के नीचे विश्राम ले देखो तरंग, पानी के बुलबुले, भिजुली की चमक, लो, अमिषी, माया की शिक्षा, सर्प, और नदी के प्रवाह में स्थिर रहने का क्या निश्राम अर्थात् इन सबके समान सातवीं लोभी चंचल है तिनके किलासमें मत भूछ ॥ ६० ॥

अग्रे गीतं मरणकवयः पार्श्वतो दान्तिष्ठात्माः ।

पृष्ठं लोलावशपरिणमि आनरग्राहिणीनाम् ॥

पदमल्लं कुरु भवमास्तादने कंठशृंगं ।

नोद्वेगतः प्रविश सदमा निर्दिष्टो समाधी ॥

(भा० टी०) समुद्र प्रसन्न माने माने दो तटों के बीच दक्षिण दिशा के मान करीब काट गुनाये दो और दंड चर दोऊनेरा से गुजर द्विती के कंठशरी

रम्यं हर्म्यतलं न किं वसतये श्राव्यं नगेयादिकं
 किंवा प्राणसमासमागममुखं नैवाधिकं प्रीतिषे ।
 किं तूद्धान्तपतत्पतङ्गपवनव्यालोलदीपाङ्कुरच्छाया
 चंचलमाकलय्य सकलं संतो वनांतंगताः ॥

(भा० टी०) संतजनों के निवास के लिये क्या
 हल न था और सुनने के योग्य क्या उत्तम २ गान
 न था और क्या अधिक प्रीति करनेवाला प्राणप्यारी स्त्री
 का सुख न था अर्थात् यह सब था तो भी संतजन इस
 जीवलोक (जगते) को हिलते हुये दीपक की छाया
 में भ्रमते मूर्ख पतंगके समान चंचल (मरण के उन्मुख)
 देखकर वन में चलेगये ॥ ६८ ॥

किं कन्दाः कन्दरेभ्यः प्रलयमुपगता निर्भसा वा ।
 गिरिभ्यः । प्रध्वस्ता वा तरुभ्यः सरसफलभृता
 बल्कलिन्यश्च शाखाः ॥ वीक्ष्यन्ते यन्मुत्तानि प्रस-
 भमपगतप्रश्रयाणां खलानां । दुःखासस्त्वयवित्त
 स्मयपवनवशानर्तितभ्रलतानि ॥ ६९ ॥

(भा० टीका) पहाड़ों की कंदराओं से कन्द मूल
 और पर्वतोंमें से पानी के सरने क्या नष्ट होगए बल्क
 ल वाले वृक्षों में से रस सहित फलवाली शाखा क्या
 ध्वस्त हो गई जो अनप्र खल जिन्होंने बड़े कष्टसे कुछ

(भा० टीका) जिस प्रसङ्ग से विष्णुजी ने ७२
 भागों में निकट ही भुवन के मध्य भाग में एक भवन
 भूमे के योग्य इन्द्राक्ष के नाम पर अपनी प्रकृति
 और सर्वोत्तम सौन्दर्य का प्रदर्शन किया है और इसी
 विहङ्गों से क्या कहें अर्धर देवदार अर्धर
 के नाम की विष्णु ॥ ७२ ॥

पातालमाधिरागि गामि नमो दिक्पते ।

दिग्मण्डलं भ्रमति नानन गामिनेन ॥

ग्रान्त्यापि जातु मितले कथमात्मनसि ।

न ब्रह्म संमनसि निवृत्तिर्मेव मेव ॥

(भा० टी०) हे चित्त ! तू अपनी प्रकृति में पाताल
 में प्रवेश करता है आकाश उल्लेख कर उस भाग में
 और सब दिशाओं में भ्रमण करता है पर भूमे की कदा
 चित् अपने हृदय में स्थित विमलप्रकाश का नहीं स्मरण
 करता है कि जिसके स्मरणसे परमानन्द की प्राप्ति हो ॥

रात्रिः सैव पुनः स एव दिवसो मत्वा मुधा जन्तवः ।

धावन्त्युद्यमिनस्तथैव निभृतमारव्यत्तरिहयाः ।

व्यापारैः पुनरुक्तभुक्तविषयेस्त्विह विधेनामुना ।

संसारेण कदर्थिता वयमहो मोक्षान्न लज्जामहे

(भा० टी०) बड़ी रात्र और बड़ी दिन नित्य होते

(भा० टीका) हे जीव ! जिस पञ्चज्ञान के आगे त्रैलोक्य का राज्य फीका हो जाता है उन प्राप्ति होकर भोजन वस्त्र और मानके लिये मांगोंमें प्रीति मत कर वही एक मांग सबसे श्रेष्ठ और नित्य उदित और प्रकाशित है जिसके स्वाद के सन्मुख त्रैलोक्य राज्य आदि नव ऐश्वर्य निरस्त होजाते हैं ॥ ८० ॥

किं वेदः स्मृतिभिः पुराणपठनेः शास्त्रैर्महाविस्तरेः
स्वर्गग्रामकुटानिवासफलैः कर्त्तव्याविभ्रमेः ॥

मुत्त्वैकं भवदुःखभाररचनाविध्वंसकालानलं ।

स्वात्मानन्दपदप्रवेश कलनं शेषा वणिञ्जुभयः ॥

(भा० टी०) श्रुति स्मृति पुराण और बड़े विस्तार पूर्वक शास्त्रों के पठने से क्या फल है और स्वर्गस्वर्ग ग्राममें कुटी बनाके रहनाही जिसका फल है ऐसे कर्मकांडकी कर्त्तव्यताके विभ्रमसे क्या है संसार बंधन के दुःख रचनाके विध्वंस करने के हेतु प्रलयार्थ का सट्टा अज्ञानन्द पदमें प्रवेशके उद्योग के बिना और सब शेष वनिज (वैश्यों का) व्यापार है ॥ ८१ ॥

थायुः कलोललोलं कतिपयदिवसमध्यायिनी यौवनश्री
रथाः सकलकला घनसमयताडद्विजया भोगपृणाः
कण्ठाश्लेषा गृह तदपि च न विरंयति वाभिः प्रणोतं
ब्रह्मण्यासकचिता भवत न्यभयाभोधिवारं तरीतुम्

देखना था अर्थात् खो में अत्यन्त आशुक्त थे अब अत्यन्त कुशल विवेकरूपों अंजन लगाने से हमारी दृष्टि समान होगई है इससे वह दृष्टि तीनों भुवनों को भी बह्यरूप समझती है ॥ ८४ ॥

रम्याश्चन्द्रमरोचयस्तृणवती रम्या वनान्तस्थली ।

रम्यं साधुसमागमागतसुखं कान्येउ रम्याः कथाः
कीपोवाहितवाष्पविन्दुतरलं रम्यं प्रियाया मुखं ।

सर्वं रम्यमनित्यतामुपगते चित्ते न किञ्चित्तुलः

(भा० टी०) चन्द्रमाकी किरणें मली लगती थीं
हरिततृण वाली वनभूमि सुशायनी देख पड़ती थी
मित्रों का समागम अच्छा लगता था शृंगाररसवाली का
व्यक्त्या प्यारी जान पड़ती थी क्रोध के आंसुओं के बूँद
से चंचल और मनभावन प्यारी का मुख सुन्दर लगता था
पर जब संसार की अनित्यता चित्त में निश्चित हुई
तब रमणीयता जाती रही ॥ ८५ ॥

मिच्छार्था जनमध्यसंगरहितः स्वायत्तचेष्टः सदा ।

दानादानविरक्तमार्गानिरतः कश्चित्तपस्या स्थितः

रम्यार्त्तागविशेषैर्जाणैर्वसनः संयातकन्धामनः ।

निमानां निरहंकृतिः शममुन्नामोगेकवद्वरद्वः

(भा० टी०) भक्त मांगके लाना लोगों के कष्ट में

चक्षण रहना स्वामीन पेशा कला देने थीर देने से

निवृत्त मार्गमें रत रहना मार्गमें पड़े पड़े पुगने वस्त्र के
दुभेजे को गुदड़ी ओढ़ना मान और अहंकार से रहित
होना शान्तबुद्धि अर्थात् ब्रह्मानन्दही में इच्छा रखना इस
प्रकार से कोई ही तपस्वी स्थिर रहता है ॥ ८६ ॥

मातर्मेदिनि तात माहृत सखे तेजः सुबन्धो जल ।

भातर्घ्योम निबद्ध एव भवतामत्यः प्रणामाञ्जलिः
युष्मत्संगवशोपजातमुद्धतस्फारस्फुरन्निर्मलः ।

ज्ञानागस्तसमस्तमोहमहिमा लीये परब्रह्मणि ॥

(भा० टी०) हे माया पृथ्वी, हे पांचोतत्त्वों के पिता
माय, हे सखा तेज हे बन्धु जल, और भाई आकाश,
तुम्हें हाथ जोड़ अन्त समय प्रणाम करता हूं तुम्हारे संग
मे पुण्य थना, पुण्य उदय होनेसे ज्ञान निर्मल हुआ और
ज्ञान निर्मल होने से मोहमहिमा दूर हुई, अब हम पर
ब्रह्म में लय होते हैं अर्थात् पृथ्वी आदि पंचतत्त्व रचित
देह को ब्रह्मज्ञान में सदायश्च समस्त प्रणाम करते हैं
क्योंकि फिर पुनः से भेंट न होगी ॥ ८७ ॥

यावत्स्वस्थमिदं शरीरमरुजं यावज्जरा दूरतो ।

चावज्ज्येन्द्रियशक्तिरप्रतिदत्ता गावर्ध्वाधो नायुवः
आत्मब्रह्मसि तावदेव निवृत्ता कार्ये ममत्वी मदाव ।
सदास्तं गुणं च कृपयन्तं मरुधरा ॥

(भा० टी०) जबतक शरीर अपना पुष्ट और नि-
 रोग है और वृद्धा अवस्था दूर है जबलौ इन्द्रियों की
 शक्ति न्यून न हुई और आयुष्य भी क्षीण नहीं हुई है
 तबतक बुद्धिमान पुरुष को उचित है कि अपने वस्त्राण
 का यत्न अच्छे भाँति से करले जब घर जलने लगा
 तब रूप भोजने के उद्योग से क्या होता है ॥ ८८ ॥

नाभ्यस्ता प्रतिवादिबृन्ददमनी विद्या विनीतोक्तिता

सद्भागेः करिकुम्भपीठदलनेनाकिं न नातं यशः

कान्तालोभलापलयाधरसः पीतो न चन्द्रोदये ।

तारुण्यं मृतमेव निष्फलमहो शून्यालये दीपयन्

(भा० टी०) नद्यत्रों की प्रमत्तता के योग्य और

वादिनों के समूह को दमन करनेवाली विद्या का अभ्यास
 करने न किया और तलवार को धारण करने के मर्यादा
 का पृथक्नाम काटके स्वामी को अपना यश न बढ़ाया
 वह वादनों मृत में मुन्दर स्त्री के होमक मारा पड़ा
 वह स्वामी पान न किया तो दूध भूजिए क्षमागे पुत्र
 जन्मवा बेटी सीती जैसे शून्य मंदिर में दीपक न ड
 का जलवा देना हो जाता है ॥ ८९ ॥

इति मेवा नावमशदिनाराने ।

हेमचन्द्रिकाद्वन्द्वनकावने ॥

स्थानं विविक्तं यमिनां विमुक्तये ।

कामातुराणामतिक्रामकारणम् ॥

(भा० टीका) सत्पुरुष को ज्ञान मान मद आदि
षट् करने के हेतु हैं और वही ज्ञान दुर्जनों को मद
मान उत्पन्न करता है जैसे एकान्तस्थान में सभी पुरुषों
को मुक्ति साधन का हेतु होता है और कामातुरों को म-
दनाशन का कारण होता है ॥ ६० ॥

शीर्षा एव मनोऽस्थारच हृदये यातं च तपोवनं ।

हृत्तंगेषु गुणाश्च वंध्यकल्पां याता गुणहर्षिना ॥

किं दुक्तं सहसाम्युपैति बलवान् कालः कृतज्ञोऽचमी

हं ज्ञात मदनांतकांभिर्गुणलंगुलत्वास्ति नान्यागातेः ।

(भा० टी०—सब मनोस्थ हृदयही में जीर्ण होगये

कोई भी सिद्ध न हुये गुण अवस्था भी वर्तमान हुई और

गुणआदिकों के बिना सब गुण निष्कल होगये अब मैं

न.शक बलवान् काळ सहसा कर निकट भज आता है

इससे अब यह जाना कि कामनाएँ शिवजी के देनों

चरण छोड़ और कोई भूमी नहीं गयी ॥ ६१ ॥

तथा शुष्यत्यालो निर्वात मरिच शालवपुर्ह ।

ध्रुवार्तः शाल्यन्ने रुन्ध्वाने वाक्पादमदितम् ॥

प्रदोप्ते कामातो भुङ्क्तुर्वालिङ्गितं च ॥

प्रतापार्थं द्यामि नान्यागाते दिव्यस्थिति

(भा० टी०) जब मनुष्यों का कंठ प्यास से मुलगाता है तब शीतल मुगंधित जल पीता है जब तुलसे पीडित होता है तो शाक आदि सामग्रों के साथ बलों के भोजन करता है जब कामदेव की अग्नि प्रचलित होता है तब सुन्दर स्त्री को हृदयसे लगाता है विचलित तो यह एक २ व्याधि की औषधि है परन्तु मनुष्यों इसे उलटा सुख ही समझ लिया है ॥ ६२ ॥

स्नात्वागाङ्गेऽपयोभिः शुचिकुसुमफले रचयित्वा विभोत्सव्ये ध्यानं निवेश्य चित्तिधस्कुहरावपर्यकमूले ॥

आत्मारामः फलाक्षी गुरुवचनरतस्त्वत्प्रसादात्स्मरारे दुःखं मोक्ष्ये कदाहं समकरचरणे पुंसि सेवासमुत्थम् ।

(भा० टी०) हे स्वामी कामदेव के शत्रु शिव ! मैं गंगाजलसे स्नानकर सुन्दर पवित्र फूलफलोंसे तुझे पूज पर्वत की कन्दरा में पत्थर की चट्टान की शय्या पर बैठ ध्यान योग्य तुम्हारी मूर्तिमें ध्यानावस्थित हो गुरुके वचन मान आत्माराम और फलाक्षी होके तुम्हारी कृपा से कब मैं मकररेखा से युक्त चरणवाले अर्थात् महाभाग्यवाले पुरुष (राजा) की सेवासे उत्पन्न हुए दुःखसे छूटूंगा ९३

शय्या शैलशिला गृहं गिरिगुहा वनं
सारंगाः सुहृदो ननु चित्तिरुदां

उद्यानेषु विचित्रभोजन विधिस्तीव्रातितीव्रं ताः ।
 कौपीनावरणं सुवन्नमपितं भिक्षाटनं मण्डनम् ॥
 आसनं मरणं च मङ्गलसमं यस्यां समुत्पद्यते ।
 तां कार्शीं परिहृत्य हन्त विधुधेरन्यत्र किं स्थायते ॥

(भा० टी०) उपवनों में नानाप्रकार के भोजन व
 नाय के खाना और जहां कठिन सेकठिन तप और लं
 गोटी पहिननाही परम सुन्दर वस्त्र और भोज्य मांगना
 ही जहां भूषण है और मृत्यु आना ही जहां परममङ्गल
 उत्पन्न होता है ऐसी काशी को छोड़ पड़ित लोग अन्यत्र
 क्यों बसते हैं ॥ ६६ ॥

नायं ते समयो रक्ष्यमधुना निद्राति नाथो यदि ।
 स्थित्वा द्रव्यति कुप्यति प्रभुरिति द्वारेषु येषां वचः ॥
 चेतस्तानपहाय ग्राहि भवनं देवस्य विश्वेशितु ।
 निर्दोवारिकनिर्दयोक्त्यस्त्रं निःसीम शर्मवदम् ॥

(भा० टी०) अभी समय नहीं महाराज एकान्त में
 बैठे कुछ विचार कर रहे हैं अभी सोते हैं खड़े हो पड़े
 लठो तुम्हें बैठे देखेंगे तो प्रभु इसपर क्रोध करेंगे ऐसे
 वचन जिनके द्वार द्वारपाल बोलते हैं उन्हें त्यागकर दे
 चित्त ! विश्वेश्वर की राह में जा जिनके द्वारपर कोई
 रोकने वाला नहीं वहां निर्दय और कठोर वाक्य नहीं
 सुनने में आते और जो अनन्त सुखदाई है ॥ ६७ ॥

रेकंदर्प करं कदर्ययसि किं कोदण्डटङ्कारवे ।

रेरेकोकिल कोमलैः कलरवैः किं त्वं वृथा जल्पसि ॥

मुग्धे स्निग्धनिदग्ध क्षेमधुरेलोलैः कटाक्षिरलं ।

चेतस्तुभित्तवःद्रुडनरुणध्यानामृतं वर्तते ॥

(भा० टी०) रेकामरेव ! धनुषकी टंकारके समान
से तुने क्षय हो क्यों उठाता है रे कोकिल ! तू मृग
क्यों बोलती है तेरे पंचमस्वर से कुछ न होगा और
है मुग्ध (मूर्ख) खो तेरे स्नेहयुक्त और मधुर कटा
क्षों से भी कुछ न होगा अर्थात् तुम सब मेरे ऊपर
प्रहार नहीं कर सकते क्यों कि आरक्षमात्र चित्तने शिर
जि के गण्धारिण को चुमकर अमृत का पान कर
दिया है ॥ १०० ॥

कीर्णानं सनरागद्वज्ज्वरतरं कन्था पुनस्तादृशी ।

निध्रिन्ते मुक्षमाभ्यनेत्रमशानं शम्भारमशानं वने ॥

नित्रा नित्र समानताति निप्रलान्तितानिशुन्यान्त्ये ।

धरताद्येनदममाद मुदिता योगा मुक्ष निध्रिन्ति ॥

(भा० टी०) पेला पेला मुल से रहता है जिनेके
हृदयमें डकी डकी कीर्ण है और क्या जो पेलाको सान
खंडकी है और निध्रिन्ते मुल माया निद्रा है जहाँ
स्नेहजन के क्या वचन निद्रा को सुझा है और दानु

अथ मे समानता है और शून्यालय अरयन्त निर्मल
गान सच्चण चिन्ता है ॥ १०१ ॥

गामंगुरवृत्तयो बहुविधास्तैरेव चायं भव- ।
। त्कस्यैव कृते परिभ्रमत रे लोक्य कृतः चेष्टितः ॥
। आपाशशतोपशान्तिविशदं चेतः सदाधीयतां ।
। मोञ्छितिवशेस्वधामनिर्यादिभ्रष्टेयमस्मद्वच ॥

भा० टी०—जितने भोग हैं उनकी वृत्ति नाशवान्
है उनके संसर्गसे भव है अर्थात् बारम्बार जन्म मरण
है यह जानकरभी है लोगो ! किसलिये भोगरूपी चक्रमें
घुमतेहो ऐसी चेष्टासे क्या फल मिलना है यदि हमारे
चैनका विश्वास मानों तो काननाशक शिव स्वयं
आकाश रूप हैं उनमें जो आरापाश छेदनकर शुद्ध हो
जा है ऐसा चित्त निरन्तर लगावो ॥ १०२ ॥

प्यानां गिरिकन्दरे निवसतां ज्योतिः परं प्यायता ।
पानदा भुजलं पिवन्ति शकुना निःशङ्कमक्लेशयः ॥
प्राप्तं तु मनोरथोपरचितप्रासादवापीतट ।

गैडाकाननकेलि कौतुक जुषामायुः परि क्षायते ॥
(भा० टीका) जो उत्तम पुष्प पर्वत को वृन्दराने
पेते और पारव्रह्मकी ज्योती का ध्यान करते हैं जिनके
गैडाकाननका सासू पक्षी लोग निडर हो गैदोंमें बैठकर

पीते है उनको घन्य है और हम लोगों को तो अ
केवल मनोरथकी मंदिर की बावडी के तटमें जो ब
का वन जिसमें लीलाके कौतुक करते ही क्षीण हो
तात्पर्य यह है कि नाना प्रकारकी मिथ्या कल्पना
में जन्म व्यतीत होता है वास्तवमें कोई मनोरथ नि
नहीं होता ॥ १०३ ॥

आनातनरथेन जन्म जरया विगुञ्चलं यौवनं ।
स्त्रीषो घनलिप्सया शममुखं प्रौढांगनाभिप्रेः ॥
लोकेर्मत्सारीभिर्गुणाननघुगं व्याले नृपादुर्जने ।
रहियेनाभिभूतिरप्यगदता अस्तं न हि केनया ॥

(भा० टीका) मृत्युने जन्मको बुझाने युवावस्था
को, घनघी इच्छाने संतोषको सुन्दरमेघोंके दावाना
शान्तिपुत्रको, मलय (जो पतई वझई न सके) लोगों ने
मुनिवर्गोंने घन भूमिको, तुर्गनोंने गजाको और नवक
ला ने देवीको, योंही हम मंगलों धियने प्रियको नहीं
बुझा कर सका है ॥ १०४ ॥

आतिशयविशेषजनन्य विविधसौम्यपुष्पमूल्ये ।
फलविनोदकनि तव विवृतदास इव व्यासदः ॥
नः ॥ १०५ ॥ अस्वपाशु विषय मृत्युः कर्मव्याजना ।
परिदेवान् निःशून्य निर्दिष्टावर्तनिनं दुर्लभतः ॥

(भा० टी०) सैकड़ों मानसिक दैहिक सेव व्यर्थ
मनुष्यों की आरोग्यता को मूल से उखाड़ डाला है
यों द्रव्य बहुत होता है वहां विपत्ति द्वार तोड़के आ
ती है जो जो जन्मता है उसे मृत्यु बलात्कार से
में अवश्य कर लेती है ऐसी कौन वस्तु है कि जिते
विधाता ने स्थिर बनाई है ॥ १०५ ॥

नृणां मेध्यमध्ये नियमिततनुभिः स्थायते गर्भमध्ये ।
मन्ताविश्लेषदुःखव्यतिकरविषमो यौवने चोपभोगः ॥
माचोणामवज्ञाविद्वसितवसति वृद्धभावोऽप्यसाधुः ।
तारेरे मनुष्या वदत यदि सुखं स्वल्पमप्यस्ति किञ्चित्
(भा० टी०) अपवित्र मलमूत्र के स्थान में बड़े कष्ट
दाप पैर बंधे हुए कल्याणवस्था में गर्भ चन्द्रीष्ट में
हता है फिर युवावस्था में स्त्रियों के वियोग दुःख से
रहित रहता है और वृद्धावस्था में नारियों से निरादर
नोचा सिर झिमे शोच में पड़ा रहता है तो हे म-
नुष्यों ! इस संसार में किञ्चत्मात्र भी सुख होय तो इससे
अर्थात् सुख का लेश भी नहीं है ॥ १०६ ॥

आयुर्वर्षशतं नृणां परिमितं रात्रौ तदर्थं गतं ।
तत्सार्द्धस्य परस्य चार्द्रमपरं बालत्ववृद्धत्वयोः ॥
शेषं व्याधिवियोग दुःख सहितं सेवादिभिर्नीयते ।
जीवे चारितरूपदलातरे सोऽस्य कुतः प्राणिनाम् ।

द्वे भी हम परित्याग नहीं करसक्ते अर्थात् इनकी भा-
ना भी हमसे त्याग नहीं होता ॥ १०० ॥

व्याघ्रोव तिष्ठति जरा परितर्जयन्तो ।

रोगाश्च शत्रव इव प्रहरन्ति देहम् ॥

आयुः परित्यजति भिन्नघटाब्जिभ्यो ।

लोकस्तथाप्यहितमचरतस्ति चित्रम् ॥

(भा. टी.) वृद्धावस्था नाभिनीसी सन्मुख खडी है

सब गेम शत्रुओंके समान देहपर दण्ड प्रहार कर रहे हैं,

जित प्रतिदिन इसप्रकार निकलती जाती है जैसे फूटे घड़ेमे

नी निकलता जाय, तिसपर भी लोग जिसमें अपना बुद्धि

वर्षा काम करते जाते हैं यह बड़ा आश्चर्य है ॥ १०१ ॥

सृजाति तावदशेषगुणाकरं ।

पुरुषरत्नगलंकरणं भुवः ॥

तदीपितत्क्षण भंगि करोति ।

चेदहह कष्टम गंडितताविधेः ॥

(भा० टीका) बड़े लेख की बात है कि ब्रह्मा की

भी यह मूर्खता कि गुणोंको जान और संपूर्ण पृथ्वी के

भूषण रत्नरूप पुरुषको पैदा करता है और फिर उसको

धुनभंगुर कर देता है—उसको तो सदैव स्थिर बनाता

तो उसकी पंडिताई थी ॥ ११० ॥

। अभिमतमहामानमन्त्रिप्रभेदपटोयसो ।

गुरुतः गुणग्रामो भोजस्फुटोज्ज्वलचंद्रिका ॥

विपुलविलसत्सज्जावल्लोचितानकुठारिका ।

जठरपिठरी दुष्पूरेयं करोति विडम्बनाम् ॥

(भा० टीका) अभिमत महाभिमान के नाश करने
में, श्रेष्ठ गांभीर्यादि गुणगणरूप कमलों के सं-
(चंद्र) करने में उज्ज्वल पूर्णिमा की चांदनी, विपुल
प्रकाशमान लज्जरूप छतासमूह के नाश करने में
जिसे ऐसी यह दुष्पूर जठरपिठरी ही सब चिंटे-
बनी है ॥ ११३ ॥

वन संज्जालभ्यं प्रतिवनमसेदं क्षितिह्रदां ।

पयः स्थाने स्थाने शिशिरमधुरं पुण्यसरिताम् ॥

मदुरपर्शा राध्या गुललितलतापल्लवमयी ।

सदंते संतापं तदपि धनिनां द्वारि कृपणाः ॥

(भा० टी०) वन वन में पिना केत ही स्वच्छंदता
से वृक्षों के फल लभ्य हैं, स्थान स्थान में पवित्र न-
दियों का शीतल मधुर जल है, तथा जगह जगह में
अतिस्नेहल लताओं के पल्लवों की सुदुरसीवाली शरणा
है तोनी कृपण जन धनियों के द्वार में संताप का सहन
करने ही है ॥ ११४ ॥

नं त्रिविधं दया च भगिनी भ्राता मनःपथकः ।
 भूमितलं दिशोऽपि नमनं ज्ञानामृतं भोजनम् ।
 तस्य कुटुम्बिनो वद सखं कस्मादयं योगिनः ॥
 (भा० टीका) हे सखे ! तूने क्या कि धर्म जिन
 । बिना है, धन जिनकी जननी है, शांति जिनकी
 यों है, मत्स्य जिसका शिष्य है, दया जिनकी बहन
 मनोनिग्रह जिनका भाई है, भूमि जिनकी शरणा
 दनों दिशा जिसका वर है और ज्ञानामृत जितका
 न है ऐसा जिनका कुटुम्ब है उस योगी को कि-
 न भय है ॥ ११७ ॥

धृतय मा रमां सकृदिनामस्थापिनीमभ्या ।
 शानत्रकुटीकुटीविहरणव्यापस्पृश्यांगनाम् ॥
 व्याकर्तुं हनः श्रविश्य भवनद्वाराणि वाराणसी- ।
 श्यासंकुपु शानिवाचपतितां भित्तान्प्रेक्षामहे ॥

(भा. टी.) हे मन ! सजावों को मुकुटाक्षय कुटी
 में विहार करनेवाली मानो पद्ममाला हो ऐसी इस चंचल
 शरीरों की आकांक्षा तु आरंभ पूर्वक करी मत कर, वरों
 कि जब हम चंपारण कंपुओं को रहित के कानों नगरी
 की दीवारों में घूमने से वहां के दरवाजों में झरोका दर
 वारा स्तरस्तर देख के मिले निश्चय हो हो इच्छा
 करते हैं ॥ ११८ ॥

यथा हि न मित्रमिदं दया च भगिनी भ्राता मनःमयकः ॥
 ज्ञेयं तस्य भूमितलं दिशोऽपि वसनं ज्ञानामृतं भोजनम् ।
 नित्यं गीते यस्य कुटुंबिनो वदन्त्यः कम्पाद्वयं योगिनः ॥
 गेतीति (भा० टीका) वे सत्ये । तूटी बता कि धैर्य जिन
 न मुकुट पिता है, दामा जिसकी जननी है, दांति जिनकी
 ता है, त्रिप्रा है, सत्य जिसका मित्र है, दया जिनकी दहन
 की विस भगिनिभ्रातृ जिनका भाई है, भूमि जिनकी शरणा
 दिनि प्रद र्शो दिता जिसका वस्त्र है और ज्ञानामृत जिसका
 समुदये है वसन है वसा जिसका कुटुंब है उस योगी को कि
 न को । न भव है ॥ ११७ ॥

अधितय मा रतां सकृदिनामस्यायिनीभस्थया ।
 ताला ॥ शालग्रामकुटीकुटीपिहरणज्वापारपमयांगनाम् ॥
 नवर ॥ थाकुरिणः श्रविश्य भवनद्वाराणि वाराणसी- ।
 ॥ एतार्तात्तु पाणिपात्रपतिता भिज्जामवेक्षामहे ॥

(भा. टी.) वे मन । सज्जता को मुकुटकर कुटी
 र में बिटार करने वाले मानो एतार्ताता हो ऐसी हमारे चक
 ॥ ११८ ॥ की आराधना तु आर पूजक कभी मत कर, वरों
 है कि अब हम केवल कंधुओं को पदों के कंधों नंगी
 हो की शिपियों में घुमने र वरों के दूरदूरों में प्रवेश कर
 वही हरद्वार पत्र में मिली निज्जा की हो ॥
 ॥ ११८ ॥

